डॉ० सरजूप्रसाद ग्रंथमाला
प्रथम पुष्प

जल-धारा

[मौलिक कहानियाँ]

लेखक—
श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा "मुक्त"

सम्पादक
श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित "कुसुमाकर"

प्रथमावृत्ति } मूल्य १॥) { सं० १९९०

प्रकाशक—
श्री मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति
इन्दौर.

१ दिसम्बर १९३३.

श्री मध्यभारत-हि   त्य-समिति-प्रेस,
इन्दौर.

विषय-सूची

श्री प्रफुल्लचन्द्रजी ओझा "मुक्त"

जल-धारा

जल-धारा ने एक दिन मुझ से कहा था "तुम इतना अभिमान किस बात पर करते हो मेरी कल-कल ध्वनि में जितना सङ्गीत है, उतना तुम्हारे स्वर में नहीं है, जितना जल मेरी धारा में है, उतना तुम्हारी आँखों में नहीं है; जितनी वेदना मेरे हृदय में है, उतनी तुम्हारे नहीं है। समझे ?"

मैंने सरल भाव से सिर हिला दिया—"अरी, मैं अभिमान कब करता हूँ ? मैंने तो हमेशा तुझको अपने से बड़ा और महान् समझा है। तू क्या यह नहीं जानती ?"

"उहुँक्!" उसने शरारत से कहा—"ऐसा होता तो तुम मेरे पास आकर गुनगुनाने क्यों लगते और कभी-कभी रोने क्यों लगते? तुम्हारे गीत, तुम्हारे आँसू और उसाँस क्या इस बात के साक्षी नहीं हैं कि तुम अपने गीतों से मेरे कल-कल सङ्गीत की, अपने आँसुओं से मेरी धारा की और अपनी उसाँसों से मेरे हृदय की वेदना की उपेक्षा करते हो, उनसे होड़ लगाते हो?"

"नहीं री, तू भूलती है। जग से ऊबकर मैं तेरे पास आता हूँ। जब तुझे इठलाती, कल-कल गाती देखता हूँ तो बरबस मेरे होंठ गुनगुनाने लगते हैं, जब तुझे सिर धुनती पछाड़ खाती निरुद्देश्य बहते देखता हूँ तो बरबस रुलाई आती है और जब तू शान्त निस्पन्द रहकर विषाद की जाली बुनती रहती है तो मेरी उसाँस रोके नहीं रुकती। मैं तेरे सुख-दुख में अपने को मिलाकर धन्य होना चाहता हूँ और किसी दिन अपने आप को भी तुझमें खो देना चाहता हूँ! पगली, तू कहती है......"

"वाह! आप मर्द हैं? बड़े बहादुर हैं! बात-बात में रो पड़ते हैं!! मैं तो तुम्हारा इम्तिहान ले रही थी!" तिरछी आँखों को नचाकर, शरारत से होंठों में मुस्कुराते हुए उसने कहा। फिर वह उतराती-उछलती बह चली।

मैंने कहा—"अरी, जरा सुन तो! एक बात पूछूँ?"

"पूछो!"

"यह तू इस तरह कभी हँसती, कभी रोती, कभी खिलती, कभी सिर धुनती, किसकी खोज में कहाँ बही जाती है? तेरी गति का अन्त भी है कहीं?"

"गति का अन्त हो तो मेरा भी न हो जाय?" उसने लजाते हुए कहा—"और, जाती कहाँ हूँ, यह क्या तुम नहीं जानते?"

"न, मैं कहाँ जानता हूँ!"

"तुमने कभी किसी को प्यार किया है?"

"प्यार! मैंने तो नहीं किया। यह क्या चोरी की तरह कोई चीज होती है?"

वह खिल-खुलकर पहले तो खूब हँसी—

"वाह! क्या भोले बनते हैं!" फिर गम्भीर हो गयी-"तुम झूठ बोलते हो! बिना प्यार किये कैसे कोई जी सकता है?"

"अच्छा! जीने के लिए किसी को प्यार करना जरूरी है? तब तो तुम भी किसी को प्यार करती होओगी?"

"उसी को ढूँढने के लिए तो बन-बन भटकती फिरती हूँ।"

"और वह आज तक नहीं मिला? खूब! बड़ा अच्छा प्यार है तुम्हारा!"

"लेकिन तुम किसे प्यार करते हो?"

"मैं?........ठहरो, सोच लूँ जरा!...अच्छा, मान लो, मैं तुम्हीं को प्यार करता हूँ!"

"हिश्!" वह नाराज हो गयी। "शरारत करते हो?" उसने कहा, और लहरों का एक हलका थप्पड़ मेरे गालों पर उछालती हुई वह चपल चरणों से वहाँ से भाग गयी।

(२)

अब तो बहुत दिन बीत गये।

जल-धारा

एक दिन जल-धारा ने कहा—"यह जो इतनी अगाध जल-राशि देखते हो, इसे क्या केवल जल ही समझते हो? यह मेरे हृदय का उच्छ्वसित प्रेम-जल है। एक बार डुबकी लगाओगे इसमें?"

"और अगर डूब जाऊँ?"

"उस डूबने में भी सुख है। आत्म-विसर्जन प्रेम की पराकाष्ठा है। मैंने तो अपना अस्तित्व इसी में खो दिया है। तुम डूबोगे, तभी मुझे पाओगे। है साहस?"

मैं चुप-रहा। मानों अपने साहस को तौल रहा था। उसने पूछा—"क्या सोच रहे हो?"

"यही कि डूबकर तुम में मिल जाने में सुख है या किनारे बैठे रहकर तुम्हीं को अपने में मिला लेने में!"

उसने आँखें मूँदकर एक सिहरन भरे सुख का अनुभव किया। बोली—"ऐसा हो पाता तो मैं अपना सौभाग्य समझती। तुम्हारे चरणों की धूल पा सकूँ ऐसा मेरा सौभाग्य नहीं है। मैं तो अपने को खो चुकी हूँ। मुझे तुम पाओगे कहाँ?"

मैं सोचता ही रहा।

"अच्छा, मैं समझ गयी। अब चलती हूँ। अभी तक अपने को खोया था। अब अपना जीवन खोऊँगी।"

उसने चलने का उपक्रम किया। मैं घबरा गया। "ठहरो—ठहरो!" मैंने पुकारा और बिना कुछ समझे-बूझे, एक छलाँग में, उस अगाध, अनन्त जल-धारा में कूद पड़ा।

सचमुच ही इस डूबने में कितना सुख है! अपना सब कुछ खोकर मैंने जो पाया है, उसका मूल्य बड़े-बड़े साम्राज्यों के मूल्य से भी अधिक और तृप्ति तपस्वियों की तपःसिद्धि से भी ज्यादा है। मेरा यह सुख अक्षुण्ण रहे, मेरा यह नशा अमर रहे, मेरी यह मस्ती कायम रहे! बस!!

(३)

लेकिन—

जल-धारा अब मेरे पास नहीं है। अपने जीवन की परम साधना की सिद्धि पाकर, तृप्त होकर, छककर, वह तपस्विनी अब किसी निर्जन

वन में तपस्या कर रही होगी। मैं अब भी कभी-कभी उसके पास जाता हूँ। जल की धारा अब भी प्रवाहित होती है, पर जल-धारा वहाँ नहीं है— न उस धारा में प्राण है, न सङ्गीत है, न वह उन्माद ही है। फिर भी जल की इस धारा को उसकी स्मृति का प्रतीक समझ कर मैं कभी-कभी उसके उद्देश्य से अपने आँसुओं की श्रद्धा और प्रेम से भरी अञ्जलि इसमें प्रवाहित कर आता हूँ। आप क्या समझते हैं कि यह मेरी श्रद्धाञ्जलि उस तक पहुँच न जाती होगी?

स्मृति-तीर्थ

१

क समय था, जब मैं खुशी-खुशी विष खा सकता था, आज अमृत पीना भी मेरे लिए मुश्किल हो रहा है। लोग समझते हैं कि मैं जो कुछ करता हूँ, यहाँ तक कि कुछ लिखता भी हूँ सिर्फ उन्हीं के लिए, पर मैं कैसे उन लोगों को बताऊँ कि मैं अपने हृदय के रक्त से जो तस्वीर बनाना चाहता हूँ, उसे हर्गिज उनकी नजरों में नहीं पड़ने

देना चाहता। हर्गिज नहीं—हर्गिज नहीं! ....
ओह! फिर भी वे देख लेती हैं। मैं क्या करूँ?
मैं इसके लिए कैसे अपने को दोषी मान लूँ?

मैं इसलिए कुछ नहीं लिखता कि मैं अपने हृदय का भार हलका करना चाहता हूँ और न इसीलिए कि उससे मेरे हृदय को शान्ति मिलती है, लेकिन उनकी कथा लिखने के लिए मैं अपने आप को बाध्य पाता हूँ। मेरा लिखना दो जीवनों के प्रकाश और अन्धकार का समन्वय है। मैं उनके जीवन से लालिमा और अपने जीवन से कालिमा चुराकर स्मृति की तूलिका से हृदय के चित्र खींचा करता हूँ। कभी-कभी रंग बहुत गहरा हो जाता है और कालिमा के समुद्र में सब कुछ डूब जाता है। तब उसकी गम्भीर कालिमा मेरे हृदय में एक कसक उत्पन्न करती है और मैं उसकी मीठी वेदना का स्वाद लिया करता हूँ।

यह भगवान् की माया ही तो है कि उन्होंने प्रकाश के एक छोर में अन्धकार का पल्ला बाँध

दिया है। इसी तरह, वह घटना, जिसे आज मैं कागज के पन्नों से चुप-चुप कह दूँगा; भगवान् की माया ही है। आप विश्वास न करें तो मेरा अपराध नहीं, पर यह सच्ची बात है कि उनसे मेरा परिचय कैसे हुआ, इस बारे में मैं कुछ नहीं जानता। हाँ, कुछ भी नहीं। शायद तब भी मैं लिखता था और शायद तब भी वे पढ़ती थीं। पर, मेरा लिखना व्यर्थ था और उनका पढ़ना सार्थक। इसी से मेरा जीवन व्यर्थता से भरा रह गया और उनका जीवन ....? मैं वह बात कैसे कहूँ?

मैं तुच्छ हूँ, वे महान हैं। मैं इस बात से इन्कार नहीं कर सकता, मैं ने कभी नहीं किया। उनकी महानता ने मुझे खरीद लिया है। आज मैं उनका न हो कर भी उन्हीं का हूँ। ओह इस भावना में कितना कड़वा सुख है! मैं इस सुख का लोभ छोड़ना नहीं चाहता। कौन इस लोभ को छोड़ सकता है?

हाँ, तो मैं था लेखक और वे पाठिका थीं। बस, इससे अधिक कुछ नहीं। सब कुछ आज विस्मृति के समुद्र में डूब गया है। आप क्या जानेंगे कि इसके लिए कितनी तपस्या कितनी साधना मुझे करना पड़ी है? आज याद है केवल यह, कि—

स्कूल से लौट कर बस्ता लिए हुए ही वे मेरे कमरे में आयीं। मैं कुछ लिख रहा था। दरवाजा खुलने की आहट पाकर चौंक उठा। उन्होंने किताबें एक ओर रख दीं। जमीन पर मत्था टेक कर प्रणाम किया। मैंने देखा, उन बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू के दो बूंद भरे हुए हैं।

अच्छा, यह आँसू इतना लुभावना, इतना प्यारा क्यों होता है? गोरे-गोरे मुँह पर चमकती हुई दो काली आँखें जब डबडबा जाती हैं, जब उनमें उच्छलित स्नेह-सरिता के दो कण छलक आते हैं, तब तरुणी सुन्दरी का सौन्दर्य सौ गुना क्यों बढ़ जाता है? और, वही आँसू जब आँखों की ओट से निकलकर कपोलों की उच्चावच घाटी

से हो कर बह जाते हैं, तो मनुष्य का हृदय फटने क्यों लगता है ? स्त्री की आँखों से टपकते हुए आँसुओं की धारा को आज तक कोई सह सका है ?

मैंने देखा, रेणु की आँखें भरी हुई थीं। मुँह उदास था। मैंने देखा और देखता ही रह गया। प्रणाम करके, किताबें लेकर वह झटपट कमरे से निकल गयी। मुझे बात करने का उसने मौका ही न दिया।

लिखना फिर न हो सका। रानू का वह भरा हुआ उदास मुँह मैं भूल न सका। वह बचपन से मेरे साथ खेली है। आज मैं सयाना हो गया हूँ, लेखक हो गया हूँ, लेकिन रानू आज भी वही भोली-भाली बालिका है। मुझे दुनियाँ में दस जने जानते हैं, रानू का कोई नाम भी नहीं लेता। उसी अपनी रानू को उदास देखकर मैं चिन्तित होऊँ तो क्या अचरज है ?

धीरे-धीरे शाम गाढ़ी हुई और अंधेरा कमरे में भर आया। अलसायी हुई सन्ध्या ने मेरे शरीर में

आलस भर दिया। मैं आँखें मूंद कर अकर्मण्य-सा उसी अँधेरे में बैठा रहा। सहसा खयाल आया कि रानू इस वक्त रोज हारमोनियम बजाती है, पर, आज चारों ओर सन्नाटा है। मन में आया, चल कर देखें क्या बात है; पर उठने को जी न हुआ और उस अन्धकार ने मेरे मन-प्राण के साथ-ही-साथ न-जाने कब मेरे शरीर को भी आच्छन्न कर लिया।

सहसा भाभी ने आकर मुझे जगा दिया—
"बाबू!"

चौंक कर उठा। देखा— भाभी सामने खड़ी मुस्करा रही हैं। कमरा बिजली की रोशनी से जगमग-जगमग हो रहा है।

शरीर बड़ा अवसन्न हो रहा था। मैंने भाभी की ओर देखा उनकी चिर-सुन्दर हास्यमयी मूर्ति अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता चारों ओर बिखरा रही थी। भाभी ने कहा—"कहिए, क्या हो रहा है?"

"नींद आ गयी थी ज़रा!"

"हूँ, मैंने समझा समाधि में हैं!"

वे हँसीं। थोड़ी देर खड़ी रहीं। फिर कहने लगीं—"क्या लिखा जा रहा है?"

"कुछ नहीं; वह यों ही, एक...।"

"अच्छा, चलो तुम्हें अम्माजी बुला रही हैं।"

अम्माजी से मतलब था रेणु की माँ से। मैं उठा और फौरन ऊपर, अम्माजी के कमरे में, जा पहुँचा। वहाँ देखा, सामान वगैरह सब बँधा हुआ रखा है, जैसे कहीं जाने की तैयारी हो। मकान सारा खाली हो गया था, सामान बँधा हुआ रखा था और अम्माजी के पास बैठी हुई पड़ोस की स्त्रियाँ यह-वह बातें कर रही थीं। देख कर भी मैं कुछ निश्चित न कर सका। मैंने पूछा—"अम्माजी! यह क्या बात है?"

अम्माजी से मालूम हुआ यह, कि रानू के पिताजी स्थायी रूप से मेरठ में आ गये हैं और अब इन लोगों को भी वहीं जाना होगा। रात को साढ़े ग्यारह बजे गाड़ी जाती है। स्टेशन पर इन लोगों को पहुँचाने मुझे ही जाना होगा।

सुनकर मन को थोड़ा दुःख हुआ। दस-ग्यारह साल से लगातार हम लोग एक ही मकान में रहते आये थे। इतने दिन का साथ क्षण भर में टूटा जा रहा था। मैंने कहा—"अम्माजी! कल जाने से काम नहीं चलेगा?"

अम्माजी हँसीं। कुछ बोलीं नहीं। क्रम से समय बीतता जा रहा था।

आखिर स्टेशन पर हम लोग पहुँच ही गये। अम्माजी ने मेरे हाथ में ताली देकर कहा—"अभी महीना पूरा होने में सात-आठ दिन बाकी हैं। कमरा खोलकर देख लेना, कहीं कोई चीज छूट न गयी हो। बहुत-सा कूड़ा-कचरा यों ही छोड़ आयी हूँ।"

मैंने ताली ले ली। कहा—"अम्माजी! हम लोगों को याद कर लिया कीजिएगा और कभी-कभी आइयेगा जरूर।"

रानू अलग, एक ओर बैठी हुई थी। गाड़ी खुलने में अब अधिक विलम्ब न था। मैंने कहा—"रानू! पत्र कभी-कभी लिखना।"

उसने सिर हिलाकर स्वीकार किया। गाड़ी खुल गयी। उस समय भी उसकी आँखों में भरे हुए आँसुओं के दो बूँद मैंने देखे थे।

२

कई दिनों के बाद रानू का पत्र आया। उसने लिखा था—

"तुमने पत्र लिखने को कहा था, पर मुझ से लिखा नहीं जाता। मैं तुम्हारी आज्ञा टाल नहीं सकी, इसी से यह पत्र लिख रही हूँ। अम्माजी तुम्हें कमरे की ताली दे आयी हैं, पर तुम मकान खाली कर देना। कूड़ा-कचरा फेंकवा देना। उसे टटोलने में समय न खोना। और हाँ, मुझे भूल जाना।"

रानू के पत्र ने मन पर न जाने कैसे विषाद की चादर फैला दी। उसके निषेध करने पर जी में आया कि कमरे को खोल कर देखूँ। मैं उसके कमरे की ओर चला।

कमरा खोलते ही मन को ठेस लगी। अनन्त उदासीनता और स्तब्धता से भरा हुआ वह कमरा बिरहिणी के हृदय की तरह उच्छ्वसित हो रहा था। खिड़कियाँ खोलकर मैं फर्श पर बैठ गया। मन में न जाने कितनी बातें उठीं और लोप हो गयीं। मैंने एक-एक कर के कमरे में बिखरी हुई चीजों को टटोलना शुरू किया। पहले एक हेयरपिन हाथ लगा। स्वभावतः मैं उसे उठाकर देखने लगा। देखते-देखते जैसे समाधि लग गयी। पिन में बनी हुई मोर की तस्वीर में न-जाने कहाँ का सौन्दर्य उस दिन उमड़ आया कि देखते-देखते मेरी आँखें थकीं नहीं, हृदय तृप्त नहीं हुआ। बहुत समय यों ही बीत गया। तब झटपट उस पिन को जेब में रखकर मैं और खोज-ढूँढ़ करने लगा।

दूसरी चीज मुझे मिली काचकड़े की दो चूड़ियाँ। चोर जैसे चोरी करते समय सावधानी से इधर-उधर देख लेता है, वैसे ही मैंने चारों ओर देखा और चूड़ियों को भी जेब के हवाले किया

फिर कागजों के ढेर में एक पुरानी डायरी मिली। ऊपर के पन्ने फटे हुए थे और बिखर रहे थे, फिर भी मैंने कौतूहल से उसे उठाकर देखा। वह रानू की डायरी थी। जितनी पुरानी दिख रही थी, असल में उतनी वह थी नहीं। रानू शायद उसे भूल से छोड़ गयी थी।

डायरी के पन्ने उलटते हुए सहसा एक पन्ने पर मेरी आँखें अटक गयीं। रानू ने लिखा था—

"प्रेम को किसने समझा है? फिर मैं न समझूँ तो क्या अचरज है? ज्यों-ज्यों सोचती हूँ, यह उलझन बढ़ती जाती है। दो दिन के जीवन में इतनी उलझन क्यों रहे? क्यों मन में इतनी लालसाओं का तूफान उठता रहे? मैं अपने आप को इतनी दुर्बल क्यों पाती हूँ? जो चाहती हूँ, वह इतना निकट होकर भी इतनी दूर क्यों जान पड़ता है? .... ओः! किस बुरी साइत में मेरी आँखों ने उन्हें देखा था?"

पढ़ कर मैं अवाक् हो गया। रानू को मैं जितनी अबोध समझता था, वह उतनी

अबोध तो नहीं मालूम पड़ती। लेकिन यह किसे प्यार करती है? जाते समय उसका जो भरा हुआ मुख-मण्डल मैंने देखा था, वह मुझे याद हो आया। मैं पन्ने उलटता गया—

"मैं और किससे कहकर अपने जी का भार हलका करूँ? इसी से तुम से कहती हूँ। तुम सुन कर भी मौन रहोगे, दूसरे चर्चा करेंगे। प्रेम मन में छिप कर रहना नहीं चाहता, लेकिन प्रकाशित होने पर उच्छिष्ट निर्माल्य की तरह देवता पर चढ़ाने लायक़ नहीं रह जाता। मन का भाव मन में ही छिपा रहे, तभी अच्छा है। लेकिन....।"

× × ×

"मन पर इतना शासन करती हूँ, जीवन के इस-उस पहलू को वास्तव के दर्पण में देख भी पाती हूँ, लेकिन मन उसके लिए पागल हो उठता है। एक बार जी में आता है, उसे भूल जाऊँ। किन्तु किसे भूलूँ? जीवन के साथ जिसकी स्मृति का एक-एक कण जड़ा हुआ है, उसे? असम्भव

है ! अपने आपको भूल कर भी उन्हें भूलना सम्भव नहीं है।"

× × ×

"तुम इतने भोले हो ! सारी दुनियाँ को देखते हो, बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखते हो, सब कुछ समझते हो और मेरे नन्हे-से दिल की बात नहीं समझ पाते? जानबूझ कर क्यों इतने अनजान बनते हो? तुम मुझे बच्चे की तरह स्नेह करते हो, पर मैं तुमसे प्रेमी की तरह प्यार चाहती हूँ। अपने दिल की यह बात कैसे तुम्हारे सामने खोलकर रख दूँ? क्यों नहीं तुम अपनी दूर-दर्शिनी आँखों से मेरे दिल की कहानी पढ़ लेते?"

मैं अधिक नहीं पढ़ सका। मेरा सिर चक्कर खाने लगा। हृदय में एक शून्यता का भाव उदय हुआ और उसने हृदय को आच्छन्न कर लिया। मैं निश्चेष्ट होकर वहीं बैठा रह गया।

३

बहुत समय अनायास ही बीत गया। इस बीच में कितनी घटनाएँ जीवन के सम्मुख आकर

निकल गयीं। बीच-बीच में रानू के और उसके पिता आदि के पत्र आते रहते थे। रानू अक्सर अस्वस्थ रहा करती थी। उसने कई बार मुझे बुलाया, पर मैं जा नहीं सका—अनेक कारणों से। एक बार सहसा ही उसका पत्र आया। उसने लिखा था—

"क्या अब भी नहीं आओगे? मेरी इतनी प्रार्थना, इतना आग्रह सब व्यर्थ ही होगा? यदि नहीं ही आना था तो पहले क्यों आये थे? मेरी हालत अच्छी नहीं है। शीघ्र ही मैं जीवित समाधि लेने वाली हूँ, उसके पहले तुम्हें एक बार देखना चाहती हूँ। यह इच्छा क्या पूर्ण नहीं होगी? तुम पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, किन्तु यदि एक बार आ सकोगे तो मेरे जी को संतोष होगा।"

इसके कुछ रोज बाद ही रानू के विवाह का निमन्त्रण मुझे मिला। अभी तक मैं मेरठ जाने के सम्बन्ध में निश्चय नहीं कर सका था, यह निमन्त्रण पाकर मैंने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया।

जब वहाँ पहुँचा, रानू बहुत बीमार हो गयी थी। रोग क्या है, कुछ समझ में न आता था। विवाह की तिथि टालदी गयी थी।

मैं पहुँचा तब वह नींद में थी। मैंने जाकर उसे देखा, बहुत दुबली हो गयी थी, मुँह पीला पड़ गया था। वह ऐसी बदल गयी थी कि पह-चानी नहीं जाती थी। देखकर मेरे जी को बड़ा कष्ट हुआ। मैं खड़ा-खड़ा उसकी डायरी की बातें सोचता रहा। हाय! हाय!! क्या प्रेम ने ही आज इसकी यह गति करदी है?

रोगिणी की परिचर्या का भार मुझे देकर रानू के पिता-माता ने अन्ततः स्वस्थता की साँस ली। मैंने भी रानू के सिरहाने एक आराम कुर्सी रख कर वहीं आसन जमाया।

रानू की तन्द्रा टूटी तो सहसा मुझे देख कर वह चौंक उठी। उसने एक बार मेरी ओर देखा। उन आँखों में न जाने कितनी वेदना कितना अव-साद भरा था! मेरा हृदय काँपने लगा, मन

अस्थिर हो उठा। उसने अत्यन्त क्षीण स्वर में पुकारा—'दिनेश!'

मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। मैं बोल नहीं सका। चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। उसने अपना हाथ सिर की ओर फैला दिया। मैंने अन-जान में ही अपना हाथ उसकी हथेली पर रख दिया। दोनों हाथों से वह मेरे हाथ को पकड़ कर बच्चों की तरह रो उठी। मैं अवाक् होकर उसकी ओर देखता रह गया।

पीड़ा क्रमशः बढ़ती ही गयी। डॉक्टरों की सारी दवाइयाँ उसके लिए व्यर्थ थीं, निःसार। धीरे-धीरे उसके जीवन की आशा जाती रही। सब लोग अधीर हो उठे, केवल मैं ही निश्चेष्ट होकर, पत्थर की मूर्ति के समान, उसके सिरहाने बैठा रहा।

रात को सहसा ही उसकी अवस्था बिगड़ने लगी। थोड़ी देर पहले घर के लोगों को जरा नींद आयी थी। जी में आया चिल्लाकर सब को

जगा दूँ, लेकिन रानू ने अपने दुर्बल हाथों के इशारे से मुझे रोका। उसकी साँस तेज चल रही थी, कदाचित हृत्कम्प भी हो रहा था। उसने अपने सूखे होठों पर ऊँगली फेरी, इशारे से पानी माँग कर पिया, फिर क्षण भर जैसे चित्त को शान्त करने का प्रयत्न करती रही।

वह सहसा ही कह उठी—'दिनेश! यह मेरी अन्तिम रात है। सूर्य का प्रकाश अब मैं देख नहीं सकूँगी। जिस बात को जीवन भर हृदय के निभृत प्रदेश में छिपाये रही, उसे आज तुम से कहे जाती हूँ। न कहूँगी, तो मेरी आत्मा को शान्ति न मिलेगी।"

वह निश्चेष्ट हो गयी, जैसे एक साथ इतना बोलने से थक गयी हो। उसने फिर पानी पिया। बड़ी देर तक मेरी ओर देखती रही, मानो उसके हृदय में कोई द्वन्द्व चल रहा हो। मेरा मन काँप रहा था, उत्तेजना से मैं पागल-सा हो रहा था। रानू ने एकाएक मेरे दोनों हाथों को अपने हाथ में लेकर जोर से दबा लिया—"मेरे स्वामी! मैं

तुम्हें प्यार करती हूँ।" वह इतना ही कह सकी और मूर्च्छित हो गयी। आवेग-भरे हृदय से मैंने उसका मुख-चुम्बन किया और रात्रि का सारा अन्धकार मानो हम दोनों के ऊपर से हो कर प्रवाहित हो गया।

४

इसके बाद की एक-एक घटना का पुङ्खानुपुङ्ख वर्णन यदि आप चाहेंगे तो वह मुझ से न होगा उस रात्रि के उस एक क्षण ने मुझे न जाने क्या बना दिया। आत्म-विस्मृत होकर मैं प्रेम-समुद्र में डूबने-उतराने लगा। रानू की आशङ्का व्यर्थ निकली। वह शीघ्र ही स्वस्थ हो गयी और चलने-फिरने लगी।

उसके बाद अधिक समय तक मैं वहाँ नहीं रह सका। ऐसा मालूम पड़ता था कि वहाँ रहूँगा तो हृदय फट जायगा, मस्तक के टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। पर, वहाँ से चला आना भी उतना आसान न था। इस बात का अनुभव मुझे बाद में हुआ।

यथा समय रानू का विवाह सम्पन्न हो गया। मैं विवाह में शरीक नहीं हो सका। मुझे साहस ही नहीं हुआ। विवाह के कुछ ही दिनों बाद रानू का एक पत्र मिला। उसने लिखा था—

प्रियवर,

तुम्हें सब समाचार मिले होंगे। तुम नहीं आये, यह अच्छा ही किया। अब तुम्हें मुझको भूल जाना होगा। एक दिन अपनी दुर्बलता से जो गलती कर चुकी हूँ, उसे सुधारना ही होगा। तुम्हें मेरी शपथ है, मेरी स्मृति को हृदय से निकाल देना और जीवन में सुखी होने की कोशिश करना। इसी से मुझे भी सुख और सन्तोष होगा। मैं अब परायी स्त्री हूँ, मेरी बात सोचोगे तो तुम्हें अपराध लगेगा।

रानू

पत्र पढ़कर क्षोभ, घृणा और उन्माद से मेरा हृदय भर गया। हाय नारी! तू इतनी तुच्छ, इतनी छलनामयी है? मेरे हृदय में आग लगा कर अब तू दूर खड़ी होकर तमाशा देखना

चाहती है ? ऐसा ही था तो मुझे इस नरक की यन्त्रणा में तूने क्यों डाल दिया ?

तीव्र घृणा और अविश्वास के बादल मेरे हृदय के आसमान में घिर आये, किन्तु हृदय में जो प्यार का अङ्कुर उगा था, वह निर्मूल नहीं हो सका। एक अव्यक्त ज्वाला में जलते हुए मैं अपने जीवन का समय बिताने लगा।

५

जिस जीवन में एक क्षण के लिए भी सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, उसकी उद्विग्नता और व्यर्थता का अनुमान कौन कर सकता है ? मेरा जीवन नरक हो रहा था और मैं तिल-तिल करके जल रहा था। अविश्वास की तीव्र धारा मेरे हृदय को कँपाती रहती थी, पर मैं रानू को भूल नहीं सका था।

एक युग बीत गया। यह समय मुझे युग से भी लम्बा प्रतीत हुआ। जो समय काटे नहीं कटता और जिससे हृदय अनेक अव्यक्त वेदनाओं से तिल-तिल कर के जलता रहता है, उस

की अवधि ही क्या हो सकती है? मुझे इस समय में रानू की कुछ खबर नहीं मिली। मैंने चेष्टा भी नहीं की, यद्यपि मेरे जीवन में केवल एक ही रम रही थी।

हाँ, तो एक युग बीतने पर उस दिन रास्ते से जा रहा था। सहसा रास्ते में बड़ी भीड़ इकट्ठी देख कर रुक गया। मालूम हुआ कि आज कोई मेला है। रथ और सवारियाँ क्रम से नगर की परिक्रमा कर रही थीं। नगर के सम्भ्रान्त स्त्री-पुरुष भी जुलूस के साथ थे। बहुत से लोग गाड़ियों और मोटरों पर भी थे।

जुलूस सामने से हो कर गुजर जाय, इस लिए मैं क्षण भर रास्ते पर खड़ा हो गया। जुलूस रुक-रुक कर चल रहा था। सहसा एक फिटन मेरे सामने थोड़ी दूर पर आकर खड़ी हो गयी। उस में तीन महिलाएँ और दो-तीन बच्चे बैठे हुए थे। मैंने स्वभावतः ही उसकी ओर देखा और चौंक पड़ा।

मेरी ओर मुँह करके फिटन में बैठी हुई वह रानू ही थी। मैंने पहचानने में बिलकुल गलती नहीं की। क्षण भर में ही उसकी चञ्चल आँखों ने मुझे देख लिया। वह बहुत दुबली हो-गयी थी, पर बहुत सुन्दर लग रही थी। बसन्ती रंग की साड़ी उसके गोरे अंगों पर बहुत खिल रही थी। सुराहीदार गर्दन में पड़ा हुआ सोने का हार साड़ी के अन्दर से चमक रहा था। कानों में पड़े हुए इयररिंग उसकी दृष्टि की गति के साथ हिल-हिल कर दर्शकों के मन को स्पन्दित कर रहे थे। मैं निस्पन्द हो कर उसकी ओर देख रहा था, इतने में उसने भी मुझे देख लिया। वह जरा मुस्करायी। और मुँह फेर लिया। मैं अभिमान और घृणा से काँप रहा था, किन्तु किसी अदृश्य शक्ति से मेरे पैर जमीन में गड़ गये थे। उसने फिर मेरी ओर देखा, उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे। वे भरे हुए आँसू जमीन पर टपक पड़े। उसने रूमाल से आँसू पोंछ लिए और मुस्करायी। हाय! उस मुस्कराहट में कितनी विवशता, कितनी वेदना

और कितना गम्भीर क्रन्दन भरा हुआ था ! क्षण भर में मैंने सब कुछ देख लिया, जान लिया और समझ लिया। हृदय में घृणा, उपेक्षा और संदेह के जो भाव भरे हुए थे, वे क्षण भर में न जाने कहाँ विलीन हो गये। जी में आया कि दौड़ कर उसके चरणों में अपना सर रख दूँ। हाय इस देवी के प्रति मेरा हृदय कितना अपराधी है !!

गाड़ी चली गयी, जुलूस खत्म हो गया और मैं पत्थर की तरह जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। जाते समय रानू ने चुप-चाप हाथ जोड़ कर मुझे प्रणाम किया था। मैं कदाचित् उसका उत्तर भी नहीं दे सका। क्षण भर में वहाँ निस्तब्धता छा गयी। तब, जहां गाड़ी खड़ी थी, मैंने जाकर वहाँ की धूल अपने मस्तक पर लगायी और अलक्ष्य में उस देवी के प्रति मैंने सम्मान से अपना सर झुकाया।

६

कई दिनों के बाद मुझे एक पत्र मिला। उसकी अविकल प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

दिनेश बाबू,

आपने न जाने मेरे सम्बन्ध में कितनी अच्छी बुरी धारणाएँ मन में बना ली होंगी, मुझे उसके लिए गिला नहीं। मैं पहले जो थी, आज भी वही हूँ। एक रत्ती भर भी मुझ में फर्क नहीं हुआ। हाँ, आपकी नजरों में मैं अवश्य अपराधिनी हूँ और अपना अपराध स्वीकार करती हूं। लेकिन, आप सोचिए तो सही, इसके अतिरिक्त मेरे लिए और गति ही क्या थी?

मैं स्वीकार करती हूँ कि मेरी जरा-सी असावधानी से आप का हृदय मरुभूमि के समान सन्तापमय हो गया है, पर विधाता को कदाचित यही मंजूर था। ऐसा न होता तो जीवन भर मैं जिस आग को अपने अन्दर ही छिपाये रखना चाहती थी, वह सहसा ही फूट कर बाहर क्यों निकल पड़ती और उसकी लपटें आपके हृदय को क्यों छू लेतीं?

आप के हृदय की अवस्था मैं समझती हूँ। आपके मन में मेरे प्रति जो भाव उठते होंगे, उन्हें

मैं खूब जानती हूँ, पर देखिए, मैं कितनी असमर्थ हूँ, कितनी विवश! आपको क्या मेरी इस विवशता पर दया नहीं आती?

आपने समय-समय पर जो पत्र भेजे, वे मुझे मिले थे। मैंने उनका उत्तर नहीं दिया। क्यों? यह क्या आप नहीं जानते?... पर, आज मैं अत्यन्त अस्थिर हो उठी हूँ। हृदय की बातें हृदय में ही छिप कर नहीं रहना चाहतीं। इसी से ये पंक्तियाँ लिख रही हूँ। आप बुरा न मानियेगा, अगर मैं कहूँ कि आपने मुझे समझा नहीं।

मैं मर कर भी आपको नहीं भूल सकूँगी। यह मेरे लिए बहुत ही कठिन है। आप मेरे शरीर की चिन्ता न कीजिए। मेरे भाग्य में ही घुल-घुल कर मरना बदा है। मैं तो—

सब्र की दौलत लुटा चुकी हूँ,
नसीबे बद की मैं दास्ताँ हूँ।

जन्म की दुखिया को किस सुख की आशा पर अपना शरीर स्वस्थ रखने की जरूरत है? तुम संसार में हो, इसीलिए यह दुर्बल-रोगी शरीर

भी यहाँ है। जब तुम न रहोगे, यह भी ठिकाने लग जायगा। तुम अभी मुझे नहीं जान सके हो अगर जानते तो अपने मरने की बात हर्गिज न सोचते। इस में भी कुछ मेरा ही दोष होगा जो तुम मुझ पर अविश्वास करते हो। देखो, मुझे पत्र लिखने के लिए विवश न किया करो। मुझे अपना खून जलाने में, कुढ़ने में ही आनन्द है। मैं चाहती हूँ, अपने शरीर को घुला-घुलाकर सड़ा दूँ, सुइयाँ चुभा-चुभाकर तमाशा देखूँ। मेरे दिल में आग है, और ऐसी जबर्दस्त कि....आफ्!

तुम मुझे छेड़ो न, मैं अपने कलेजे की आग में झुलस रही हूँ। जैसा दर्द मेरे दिल में है, अगर तुम एक सेकिण्ड को भी जान लो तो बेचैन हो जाओ। अपने दिल की कुछ आह तुम कविताओं में, कहानियों में और मुझ पर निकाल लेते हो, पर मेरे दिल का हाल कौन पूछे और समझे? मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ, मुझे इसी आग में जलने दो। मुझे पत्र लिखने को न कहो। मेरा दर्द हलका हो जायगा, तड़पने का मजा चला जायगा। तुम अच्छे रहो मेरे हृदय, अपने को

दुखी न करो। इस अभागिनी के लिए अपना कोमल हृदय न जलाओ। मेरा जीवन अब बहुत थोड़ा है प्रिय, कभी मेरे बाद भी मुझे याद कर लेना।

तुम्हारे चरणों की—रेणु

उनकी आज्ञा के अनुसार जीवन की अन्तिम आशाओं के साथ मैंने इस पत्र को भी नष्ट कर डाला है। शेष है मेरे पास केवल उनकी स्मृति और कूड़े में से निकाली हुई दो चूड़ियाँ और हेयरपिन। ये आज भी बड़े यत्न से मेरी सन्दूक में सञ्चित हैं और इस स्मृति-तीर्थ के पुण्य के आधार पर मेरे जीवन का शेष भाग वाहित हो रहा है। मेरे हृदय से अन्धकार का परदा हट गया है। अपनी तुच्छता और उनकी महत्ता मैंने स्पष्ट देख ली है। जीवन का प्रवाह अलस भाव से चल रहा है—उसमें न गति है, न विराम। सुख और दुःख से परे होने पर भी हृदय में एक हल्की टीस कभी-कभी उठती है। मैं इस वेदना के स्वाद में अपने आपको भूल जाता हूँ।

आज उनका जीवन स्वच्छ दर्पण-सा मेरे हृदय में चमक रहा है। विवाह में उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसका अर्थ मैं आज समझ सका हूँ। हाय! उस पत्र में कितनी विवशता, कितना आत्म-बलिदान और कितनी गम्भीर वेदना भरी हुई थी।

अब उनके पत्र मुझे नहीं मिलते, पर सदा मुझे आशा लगी रहती है कि आज उनका पत्र मिलेगा। इस अनन्त आशा के सूत्र पर ही मेरा जीवन चल रहा है। जिस दिन यह आशा पूर्ण होगी, कदाचित् उसी दिन यह जीवन भी पूर्ण हो जायगा।

मैं अब कुछ न कहूँगा। समझने वाले समझेंगे और नासमझ मेरी खिल्ली उड़ावेंगे। जीवन में चुप रहना जितना मुश्किल है, उतना ही लाभदायक भी है। अपने जीवन के अन्त में यह इतना ही मैंने सीखा है। दुनियाँ चाहे तो मेरी इस सीख से लाभ उठा सकती है।

क्षण-भंगुर

"ज़रा अपने दिल पर हाथ रखकर देखो तो सही, कैसा धक्-धक् कर रहा है!"

"हाँ, कर तो रहा है; फिर?"

"मैं पूछती हूँ, क्यों कर रहा है भला?"

अब, मालती इस क्यों का क्या उत्तर दे? ज़रा मुस्कराथी और प्रेम के गालों पर उसने एक हल्का-सा चपत जड़ दिया। प्रेम ने गुस्से से आँखें तिरछी कर के उसे देखा। कहा—"तुम बड़ी वैसी हो रानी! मैं तुमसे नहीं बोलती।"

"कैसे नहीं बोलोगी?" कह कर मालती ने प्रेम के गोरे-गोरे गालों का अपने कोमल अधरों से चुम्बन किया, फिर दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

प्रेम सुन्दरी है और युवती भी। रंग खूब साफ है, कद लांबा, नाक सँवारी हुई, होंठ पतले, दाँत मोती-से झक-झक और आँखें कानों तक फैली हुई। उम्र बाईस साल के लगभग होगी। गोद में खिलौना-सा एक बच्चा है। देखते ही उसकी शान्त-सरल मूर्ति और भोलीभाली आँखों का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है।

मालती का कद मझोला है। शरीर सुडौल और गढ़न निर्दोष है। आँखें बड़ी भावपूर्ण हैं, जैसे किसी नशे-में विभोर-सी हुई रहती हैं। सुराही-दार गर्दन जरा ऊँची है; जिससे उसकी सुन्दरता और बढ़ गयी हैं। स्वभाव चञ्चल है और हँस-मुख। सदा खुश रहती और दूसरों को खुश रखती है।

प्रेम का सौन्दर्य पूर्णिमा की रजत-रात्रि की ज्योत्स्ना है, जिसके प्रकाश से नयन-मन पुलकित होते हैं और मालती का सौन्दर्य सावन-भादों की अन्धकारमयी रजनी में चमक उठने वाली बिजली का तीव्र प्रकाश है, जिसमें मनुष्य की आँखें तिलमिला उठती हैं। प्रेम के शान्त सौन्दर्य को देखकर उसके प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है और मालती के सौन्दर्य को देखकर उस सौन्दर्य-ज्वाला में जल-मरने के लिए मनुष्य के मन-प्राण आकुल हो जाते हैं। मालती प्रेम के रूप-जाल में उलझी हुई अपने-आप को भूली रहती है और प्रेम मालती की रूप-ज्वाला में जल-मरना चाहती है। कैसी पागल हैं दोनों!

हाँ, तो हास्य का प्रवाह अभी समाप्त भी न हो पाया था कि मालती ने कहा—"अरी प्रेम, जरा देख तो सही, सचमुच मेरा जी न जाने कैसा करने लगा!"

मालती लेटी हुई थी। प्रेम उसके वक्षःस्थल को तकिया बनाकर आराम कर रही थी। सहसा

तीव्र होते हुए मालती के हृदय के स्पन्दन को प्रेम ने अनुभव किया। वह झट उठकर बैठ गयी। मालती हाँफ रही थी। "बहन! पानी!" उसने धीरे-से कहा और दोनों हाथों से कसकर छाती को दबा लिया। प्रेम ने दो घूँट पानी उसके मुँह में डाल दिया। थोड़ी देर बाद मालती प्रकृतिस्थ हुई।

"बहन! यह तुम्हें क्या हो गया है?" प्रेम ने आँखों में आँसू भर कर पूछा।

मालती ने कहा—"एक दिन इसी तरह प्राण निकल जायँगे। किसी को पता भी न चलेगा।" और न जाने कैसी-कैसी बातें क्षण भर में उसके मन में झञ्झा की तरह प्रवाहित हो गयीं।

"बहन!"

"…. …. …."

"क्या सोचती हो?"

"दुनियाँ से कितनी ममता हो गयी है बहन! ऐसा लगता है, जैसे आसानी से इसे छोड़ न सकूँगी। लेकिन, एक दिन ……….., और कोई जान भी न पावेगा!"

"हिश-यह क्या वाहियात् ....।"

"अच्छा प्रेम! मैं मर जाऊँगी तो तू रोयेगी कि नहीं? सच-सच कहना।"

"मे भी मरूंगी!"

"तुम किस दुख से मरोगी बहन? पति-पुत्र को छोड़कर तुम से मरा जायगा?—"

तब, प्रेम की और मालती की भी आँखों में एक दर्दभरी तस्वीर झलक उठी और वे दोनों गले लगकर फूट-फूटकर रोने लगीं।

क्षण भर पहले के हास्य ने अब क्रन्दन का रूप धारण कर लिया था! इसी हास्य-क्रन्दन की समष्टि का नाम संसार है।

मैंने अलग बैठे-बैठे सखियों का वह हँसना भी देखा और यह रोना भी; लेकिन—

लेकिन, जाने दो। वह बात फिर कहूँगा।

❦

मालती और प्रेम का परिचय थोड़े ही दिनों का है, लेकिन इतने ही समय में वह घुल-मिलकर

ऐसा गाढ़ा हो गया है कि अलग पहचाना नहीं जाता। मालती को पहाड़ पर आये बहुत दिन नहीं हुए—मुश्किल से यह पहला महीना बीत रहा होगा; लेकिन प्रेम दो महीने से यहीं है। साथ में उसके पति, दो नौकर, एक रसोइयाँ और गोद का बच्चा है। मालती के साथ उसके सोलह-सत्रह साल के भाई रमेश के सिवा और कोई नहीं है।

मालती के जीवन में अमावस्या का अन्धकार ही प्रधान रहा है। बालरवि की अरुणोज्वल किरणें वह अपने जीवन में कभी नहीं देख सकी। माँ बाप उसके, संसार के अकूल सागर में न-जाने-कब खो गये। मामा के घर पली और उन्हीं ने व्याह भी किया, पर व्याह होते-न होते, एक मास के अन्दर ही चिर वैधव्य ने आ-घेरा; जैसे सर्वनाश उसके जीवन के साथ होड़ लगाये हुए हो! अब, बेचारी मालती अपने व्यर्थता से भरे जीवन के दिन अनन्त नैराश्य और सूनेपन की लहरों में बहते हुए काट रही है।

मालती का हृदय-रोग अब बहुत पुराना हो गया। शरीर दिन-दिन सूखता और पीला पड़ता जाता है। लेकिन विधवा का जीवन तो समाज में रूप-गन्धहीन एक पुष्प समझा जाता है, जिसे न खिलकर किसी के मन को रिझाने का अधिकार है और न अपने अन्तर्निहित पुष्प-पराग को अपने आराध्य-देव पर चढ़ाकर अपने जीवन-जन्म को सार्थक करने का ही। मालती के स्वास्थ्य की चिंता रखने वाला कोई नहीं है। मालती भी समझती है कि उसके न रहने से दुनियाँ का कुछ बिगड़ नहीं जायगा, इसलिए वह भी बीमारी की ओर से निश्चिन्त ही है; लेकिन मालती का ममेरा भाई रमेश यह नहीं बर्दाश्त कर सकता। उसने अपनी इस अभागिनी बहन को बचपन से ही बहुत प्यार किया है। वह कैसे अपना बस चलते उसे मर जाने दे? इसी से, इस बार वायु-परिवर्त्तन के लिए मालती को लेकर वह पहाड़ पर आया है।

और प्रेम? वह तो प्रायः हर साल ही पहाड़ों पर आती है? उसे भगवान् ने सब दिया है, धन

भी और कुटुम्ब भी। उसे किसी बात की कमी थोड़े है! जी चाहे जहाँ आवे-जाय। वह और भी कितनी ही बार पहाड़ पर आयी है, पर केवल इसी बार उसके जीवन में यह अघटन घटना घटी है। घटना यों हुई—

सन्ध्या को मालती रमेश के साथ वायु-सेवन के लिए निकली थी। रंग-बिरंगे वस्त्रों से आच्छादित, भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों का यातायात और क्रीड़ा-कौतुक देखकर मालती के मन में भी थोड़े बल और साहस का सञ्चार होता है। वह आज कई दिनों पर घर से बाहर निकली है। वह नीचे की ओर सर्पाकृति में फैले हुए पथ को देखती है और ऊपर फैले हुए अनन्त नील अम्बर को। सन्ध्या अब समागत है। आसमान में पर फैलाये हुए कई पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं, एक ओर दो-तीन तारे उग आये हैं। थोड़ी देर में अन्धकार पृथ्वी के आँगन में सघन हो जायगा और तारे उस अन्धकार में झलमलाने लगेंगे। मालती धीरे-धीरे चल रही और यह सब देख रही है। दूर, सड़क पर,

रंग बिरङ्गे वस्त्र पहने कितने ही बच्चे अपनी सेवि-काओं की उँगलियाँ पकड़े, उल्लास से भरे, क्रीड़ा करते, टुमुक-टुमुक कर चले जा रहे हैं। कुछ सैलानी, टोलियाँ बाँधकर या अकेले ही, रास्ता छोड़कर इधर-उधर उतर पड़े हैं और हाथ की छड़ी घुमाते हुए सान्ध्य वायु का सेवन कर रहे हैं।

यह इतना बड़ा विश्व है और इसमें इतने प्राणी हैं! हम किसका किसका हृदय देखेंगे! कपड़ों के आवरण में छिपे हुए किसके हृदय की धड़कन किस भाषा में कौन राग गा रही है, इसका हिसाब कौन रखे? कितने दुख-सुख, हास्य-क्रन्दन और आशा-निराशाओं का समन्वय, यह संसार है! यहाँ कोई रोता है, कोई हँसता है और कोई इन दोनों से परे हो कर आत्म-चिन्तन में लीन है। लेकिन, यह मालती! इस अभागिनी के जीवन का निर्माण भी क्या हमारे ही आपके जैसे तत्वों से हुआ है? अनन्त साधना का दीपक जलाये, यह तपस्विनी किसके उद्देश्य से अपने जीवन-सुमन का अर्घ्य चढ़ा रही है? अभिलाषाओं

का कितना बड़ा संसार, कामनाओं की कितनी उत्ताल तरङ्गें इसके छोटे-से हृदय में सीमित हैं ? कल्पना की आँखें इसे देख पावेंगी तो उन्हें कविता सूझेगी और इसका जीवन कितना कवित्वहीन है ! किसी के जीवन के साथ हम यह उपहास सह नहीं सकेंगे इसी से मालती के हृदय का चित्र खींचकर हम आपके सामने नहीं रखना चाहते । उसकी आँखों की पुतली में उतरी हुई पीड़ा की तस्वीर अगर आप देख सकते हैं तो उसे ही देखें और उसी से उसके जीवन की साधना और तपस्या का अनुमान करलें ।

वह अलग, एक ओर, अपने भाई के साथ जा रही है । अब थक गयी है और उसके हृदय का स्पन्दन भी तीव्र होता जा रहा है । उधर आसमान के कोने में काली-काली घटाएँ घिरने लगी हैं । अन्धकार घना होता जा रहा है । मालती एक पत्थर पर बैठ गयी । उसने कहा—"रमेश ! अब तो मुझ से न चला जायगा भाई ! अभी वह झरना और कितनी दूर है ?"

रमेश ने कहा—"अभी तो शायद दूर है; और उधर आसमान में बादल भी घिरने लगे हैं। सम्भव है, अभी क्षण भर में ही पानी बरसने लगे। चलो, अब झटपट घर लौट चलें। वहाँ फिर कभी चलेंगे।"

"भाई, मुझ से तो अब एक कदम भी न चला जायगा। मुझे यहीं थोड़ी देर बैठ लेने दो।"

मालती बैठ गयी और उन काले-काले बादलों की ओर खूनी आँखों से देखने लगी। जब बादल आसमान में घुमड़ आते हैं तो मनुष्य का हृदय क्यों किसी भारीपन का अनुभव करने लगता है? एक प्रकार की उदासी और नैराश्य क्यों उसके हृदय में घुमड़ आती है? मालती यही सोचती और अपलक आँखों से आसमान की ओर देखती जाती है। अन्धकार धीरे-धीरे गाढ़ा होता जाता है। चारों ओर सन्नाटा फैल रहा है। उस अन्धकार को भेदकर, द्वार पर बिजली की बत्तियाँ चमक रही हैं, जैसे अन्धकार में जुगनू चमक रहे हों। लेकिन मालती का ध्यान इन बातों की ओर नहीं

है। वह एकटक आसमान की ओर देख रही है, जैसे आसमान के स्तर को भेदकर नियति की लिखावट पढ़ रही हो। और रमेश टहलते हुए थोड़ी दूर आगे बढ़ गया है। विचारों का क्रम टूटने नहीं पाता और मालती को अकेली छोड़ कर वह धीरे-धीरे आगे ही बढ़ता चला जा रहा है।

एकाएक तीर की तरह वर्षा आयी और मालती को सराबोर कर गयी। मालती बीमार है, दुर्बल है, पर जल की ये फुहारें कब इसका विचार करती हैं! पर्वत के ऊँचे-ऊँचे शिखरों और धरातल से मिली हुई घाटियों में सफेद तीरों सी गिरती हुई जल की ये धाराएँ बड़ी सुन्दर लगती हैं। अपने कमरे की खिड़की में बैठी होती तो कदाचित् मालती भी इस सुहावने दृश्य को मुग्ध होकर देखती, पर वह आसमान के नीचे है और भीग रही है। वह चौंककर उठ बैठी। ठण्ड से उसका शरीर काँपने लगा। वह घर की ओर चलने के लिए उठ खड़ी हुई। रमेश भी इतने ही में पास आगया।

दोनों थोड़ी ही दूर आगे बढ़े होंगे कि सहसा किसी की चीख सुनकर मालती सहम गयी, खड़ी हो गयी। "रमेश! जरा देखो तो भैया!" उसने कहा और अन्धकार में उस क्षीण स्वर को लक्ष्य करके दोनों उसी ओर अग्रसर हुए। इतने ही में चीखने की आवाज और स्पष्ट सुन पड़ी। किसी रमणी-कण्ठ से निकली हुई "मुझे बचाओ" की आवाज सुनकर मालती ने दृढ़ता से कहा "घबराओ नहीं।" और वे दोनों ही क्षण भर में घटना-स्थल पर पहुँच गये। मालती ने बढ़कर पूछा-"बहन! तुम कहाँ हो?" उसी क्षण भय तथा घबराहट से काँपती हुई प्रेम ने अपने-आप को मालती के दुर्बल हाथों में छिपा दिया। थोड़ी देर तक उसी बरसती हुई जल-धारा के नीचे वे तीनों मौन-निस्पन्द खड़े रहे। तब मालती ने पूछा-"बहन! तुम अकेली हो?"

"अकेली? नहीं, बच्चे को लेकर वे थोड़ा आगे बढ़ गये थे। इतने में अँधेरा बहुत हो

गया। पानी पड़ने लगा, मैं भटक गयी और एक दुष्ट ने मेरा पीछा किया········"

"खैर, कुछ डर नहीं। हम लोग मौके पर पहुँच गये। अब चलो, घर चलें।" और, जैसे न-जाने कितने दिनों का परिचय लेकर दोनों सखियाँ घर चलीं। इस प्रकार घटना-क्रम ने मालती और प्रेम को ऐसे स्नेह-सूत्र में जकड़ दिया कि वे दोनों एक प्राण दो शरीर हो कर रह गयीं।

तब से मालती के जीवन में थोड़े रस का संचार हुआ। प्रेम-सी सखी, उसके बच्चे-सा खिलौना और उसके पति-सा भाई पाकर उसने अपने जीवन के अभाव को भुला दिया। प्रेम ने मालती को अपने ही यहाँ बुला लिया और पहाड़ पर बीतने वाले ये कई महीने सुख और प्रसन्नता में ही बीत गये।

❦

मालती और प्रेम के जीवन में मैं कब और कहाँ से कूद पड़ा, यह मैं कह नहीं सकता। मैं

तो सब कुछ छोड़ कर अलग हो चुका था, लेकिन मालती के दुर्भाग्य ने मुझे फिर पिंजरे में बन्द किया; और, प्रेम का जिस पर एकाधिपत्य था, उस मालती के हृदय पर धीरे-धीरे मैं भी अपने अधिकार का दावा करने लगा।

अपना परिचय मैं आप को क्या दूँ? अब एक भिखारी हूँ, आकाश जिसकी चादर और धरती जिसका बिस्तरा है। नदी का जल जिसका कलसा और अपने गीत ही जिसके दुख-सुख की कहानी हैं। मेरे जैसे अकिञ्चन का परिचय ही क्या हो सकता है? एक समय था, जब मैं मालती के साथ खेला था, फिर एक समय आया जब मैंने मालती के आँसुओं के साथ अपनी अश्रु-गङ्गा बहायी थी, उसके बाद वह समय भी आया जब संसार के बन्धनों से अलग होकर रहना ही मुझे अच्छा लगा और ऐसा ही मैंने किया। लेकिन, उस दिन जब सुना कि पहाड़ से लौट आने के बाद मालती की तबीयत सहसा ही बहुत खराब हो गयी है तो मुझ से रहा न गया। मैं अतीत और वर्त-

मान दोनों को ही भूल कर मालती के घर पहुँचा। उस समय मालती की तबीयत शायद ज्यादा खराब थी। घर में हलचल-सी पड़ी हुई थी। पास-पड़ोस की कितनी ही स्त्रियों ने आकर उसे घेर रखा था।

रमेश से मालूम हुआ कि पिछली रात को मालती की तबीयत बहुत बिगड़ गयी थी, अब सुस्त सी पड़ी है। थोड़ी देर बाद मैं उसे देखने गया। वह मुझे देखकर चुपके-चुपके रोयी। मेरा भी जी हुआ कि रोकर अपने हृदय का भार हलका कर लूँ, पर मैं कैसे रोता? मैं तो पुरुष हूँ। पुरुष रोकर क्या अपना मान घटावेगा? मन के दम्भ ने हृदय का आवेग हृदय में ही घुटने के लिए छोड़ दिया। मैंने पूछा—"अब कैसा जी है रानी?"

"अच्छी हूँ। तुम कैसे हो जगत्?"

"अच्छा ही हूँ।"

"किधर से आ रहे हो?"

"यहीं झूँसी में था।"

"हँ; तपस्या निर्विघ्न चल तो रही है न? जटाएँ तो खूब बढ़ा ली हैं।" मालती के नयन-कोरों में

आँसुओं की दो बूँदें दिखीं और अधरों पर एक विषाद-मिश्रित मुस्कान। आँसू ढुलक कर कपोलों पर सूख गये। मैंने सिर झुका लिया।

तीसरे पहर मालती को थोड़ी झपकी आ गयी थी, तभी एक मोटर आकर दरवाजे पर रुकी। हॉर्न की आवाज सुनते ही मालती चौंक पड़ी। बोली—"प्रेम आ गयी शायद। ओः! मेरे लिए कितनी तकलीफ उठाती है बेचारी!"

प्रेम मेरे लिए एकदम अपरिचित हो ऐसी बात न थी, सवेरे से लेकर अब तक के इन कई घण्टों में मालती ने मुझे प्रेम के बारे में प्रायः सभी बातें, यहाँ तक कि उसका रूप-रंग, स्वभाव-चरित्र, बोल-चाल, स्नेह-ममता आदि तक, बता दी थी। मालती की बात खत्म होते-न-होते प्रेम दौड़ती हुई कमरे में आ पहुँची, लेकिन सहसा मुझे देखकर क्षण भर के लिए ठिठक गयी; फिर, उसने घूँघट जरा आगे खींच लिया और दोनों हाथ जोड़कर वीणा-विनिन्दित स्वर में बोली-"नमस्कार।"

हाथ जोड़कर मैंने भी उसके नमस्कार का उत्तर दिया, पर मैं समझ न सका कि प्रेम मुझे कैसे जान गयी। इतने ही में मालती बोली—"बहन! देखो, ये स्वामी जगदानन्द जी भी आ ही गये। मैं इनके बारे में तुम से कहा करती थी न ?"

"हाँ, मैं तो इन्हें देखते ही पहचान गयी।"

अब मेरे विस्मय की बारी थी। मैं झटपट पूछ बैठा—"यह कैसे ?"

"इसी मास के 'कदम्ब' में आपकी कविता के साथ आपका चित्र जो निकला था !"

"भई, दुनियाँ में कहीं रहने की जगह नहीं है।"

"बहुत जगह है। रहने की अक्ल चाहिए।" प्रेम ने कहा और मालती की ओर एक कटाक्ष फेंक कर मुस्करा पड़ी। मैंने अपना सिर झुका कर अपनी अयोग्यता स्वीकार करली।

❦

प्रेम रोज ही आती और घण्टों मालती के पास बैठकर गपशप करती, उसके घर का प्रबन्ध

करती तथा दवा-दर्पन की व्यवस्था कर जाया करती थी, अब मालती का स्वास्थ्य सुधर चला था, लेकिन कमजोरी बहुत थी। एक दिन प्रातः-काल प्रेम के आते ही मालती ने कहा—"अरी प्रेम! ये स्वामी जी तेरे घर में अनशन करके जान देने को उतारू हो रहे हैं, आज इन्हें कुछ बनाकर खिला तो सही!"

प्रेम, आज्ञानुवर्त्तिनी दासी की तरह हाजिर थी।

मैंने बहुत मना किया, पर वह रसोई-घर में जा डटी। मैंने मालती से कहा—"रानी! तुम बड़ा अन्याय कर रही हो। बेचारी ने अपने घर में कभी चूल्हे का मुँह भी न देखा होगा।"

"इसीलिए तो मैं मुँह दिखा देना चाहती हूँ, यह हौसला भी क्यों रह जाय?"

दस-पंद्रह मिनट बाद प्रेम वापस आयी। उसकी आँखों में पानी भरा हुआ था, मुँह लाल हो रहा था, बाल बिखर गये थे और बिखरे हुए बालों पर चूल्हे की राख फैल गयी थी। मैंने भाव-मुग्ध होकर प्रेम के उस

अपूर्व सौन्दर्य को देखा, मन ही मन उसकी सराहना की। प्रेम ने झुक कर चुपके-चुपके मालती के कान में कुछ कहा। मालती खिलखिलाकर हँस पड़ी—"पगली!" और तब उसने मुझ से कहा—"स्वामीजी! मेरी बहन से लकड़ियाँ नहीं उतरतीं, जरा उतारदो जाकर।"

मैं प्रेम के पीछे-पीछे रसोई घर में गया। ऊपर पाटे पर लकड़ियाँ चुन कर रखी हुई थीं। उन्हें उतारते हुए, मैंने सलज्ज स्वर में कहा—"आप तो व्यर्थ ही मेरे लिए इतना कष्ट उठा रही हैं।"

उन्होंने स्नेह-स्निग्ध-दृष्टि से मेरी ओर देख कर कहा—"भाई को खिलाने में बहन को कहीं कष्ट हुआ करता है?"

बहन की उस अमृतवाणी को सुनकर श्रद्धा से मैंने सिर झुका लिया। मैं नहीं जानता कि संसार में इस से भी अधिक मधुरता और कहीं होती है!

❦

मालती अब अच्छी हो गयी थी। एक दिन हँसते-हँसते उसने मेरी जटाएँ कैंची से काटदीं।

कहा—"क्या वाहियात शकल बनाये फिरते हो! दुनियाँ को ठगने के बहुत से तरीके हैं।"

मेरे मन का मोह धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। एक तन्द्रिल आवरण मेरे मन प्राण को आच्छन्न कर रहा था। मालती के स्नेह-यत्न और प्रेम के आदर-दुलार की छाया में रह कर मैं सारे संसार को भूल गया था। मालती के प्रति मेरा स्वभाव दुर्बल मन प्रबल वेग से धावमान हो रहा था, जैसे झरने का जल भीषण उन्माद से धरती की ओर प्रधावित होता है। यह मेरा पतन था, पर मैं उसे दीप्त-स्तंभित आँखों से, निश्चेष्ट हो कर देख रहा था। हाय! मेरा यह आकर्षण मुझे न-जाने कहाँ ले जायगा?

शाम को प्रेम के प्रति रमानाथ ने आकर मालती से कहा—"बहनजी, प्रेम ने कहा है कि आज 'पैलेस' में 'राधारानी' देखने जाना होगा। तुम लोग छः बजे वहीं पहुँच जाना। मैं प्रेम के साथ ठीक वक्त पर वहीं मिलूँगा।"

प्रेम की बात टाल सके, मालती में ऐसा साहस नहीं है। केवल मालती ही में क्यों, मैं तो कहता हूँ, किसी में यह साहस नहीं है कि वह उसकी बात टाल सके। अस्तु,

ठीक छः बजे हम लोग पैलेस पहुँचकर, दूसरी पटरी पर, वृक्षों की छाया में खड़े हो गये। पैलेस का विशाल भवन विद्युत्ज्योति से उद्भासित हो रहा था। सैकड़ों नर-नारियों के यातायात और कोलाहल से मिलकर बनी हुई एक हर्ष-पुलकित ध्वनि चारों ओर स्पंदित हो रही थी। हम लोग एक ओर खड़े-खड़े यह जीवनमय दृश्य देखते हुए प्रेम और उसके पति की प्रतिक्षा करने लगे।

खेल साढ़े छः बजे शुरू होनेवाला था। धीरे-धीरे समय बीतने लगा। मालती बार-बार घड़ी देखती और प्रेम को कोसती जाती थी— "छः बजकर सत्रह मिनिट हो गये, अभी आपका पता ही नहीं! वक्त पर न आयीं तो मैं तो नहीं देखूँगी; और, फिर कभी न आऊँगी। देख लेना!"

इतने में कोई मोटर आ जाती और मालती उल्लसित होकर कहती—"वह देखो, आ गयी शायद! प्रेम ही की मोटर तो है!" लेकिन मोटर के पास आने पर आशा निराशा हो जाती। मालती झुँझलाकर अपनी कलाई-घड़ी देखने लगती। इसी तरह समय धीरे-धीरे बीतता जा रहा था।

लेकिन, मालती की प्रतीक्षाजनित इस विकलता से मेरे मनका तार न बंधता था। मेरी मानसिक दशा आजकल बहुत खराब हो गयी थी। जीवन में यह जो एक अद्भुत परिवर्त्तन सहसा ही घटित हो गया था, औरों के लिए यह चाहे जैसा हो, पर मैं इस वेग को संभाल न पाता था। मालती की रूप-ज्वाला के चारों ओर मेरा मन-पतङ्ग भ्रमित हो रहा था, पर उसे स्पर्श करने का साहस न होता था। जो अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो, वही उस ज्वाला को स्पर्श करे। मैं प्रति क्षण अपने हृदय को टटोल रहा था। मुझ में है इतना साहस?

आप मुझे चाहे जो कहें, पर अपना हृदय आप से छिपाऊँगा नहीं। संसार में नशीली चीजों का अभाव नहीं है, पर यह यौवन, यह प्रेम, यह सौन्दर्य और यह रूप-ज्योति! ओः, यह नशा सब से विषैला है। मालती प्रति क्षण मेरे पास रहती है, मुझ से हँसती-बोलती है, मेरे दुख-दर्द में शरीक होती है, मुझ से उसके जीवन का यह अन्धकार, यह सूनापन देखा नहीं जाता। मुझे इतना साहस, इतना अधिकार किसने दिया है? मालती ने ही तो! अपनी बड़ी-बड़ी आंखों में आँसू भर कर, बरामदे के खम्भे से टिक कर, जब गोधूलि की धूमिल बेला में वह अपनी सूनी आँखों से अनन्त आकाश की ओर देखने लगती है, तो मेरे प्राण हाहाकार कर उठते हैं। मैं बचपन से मालती के साथ खेला हूँ, मैंने उच्छ्वसित हृदय से उसे प्यार किया है, किन्तु नियति के एक निर्मम इङ्गित ने हम दोनों की जीवन-धाराओं को बाँध बाँधकर बिलकुल पृथक् कर दिया था, आज पुनः नियति के इङ्गित से ही वह बाँध टूटा जा

रहा है। आज विरागी जगदानन्द के मन में पुनः अनुराग की अरुणिमा विकसित हो रही है, कौन जानता है कि विधवा मालती के सूने हृदय-मन्दिर में भी प्रेम की धुँधली मूर्त्ति नहीं जगमगाने लगी है! मालती के गोरे-गोरे गालों पर जब आँसू की बूँदें बरबस ढुलक पड़ती हैं, तब अपने हृदय के उच्छ्वास को रोकने के लिए मुझे कितना प्रयत्न करना पड़ता है! उन गालों पर ढुलके हुए मोती से आँसुओं को अपनी अञ्जलि में भर लेने के लिए कौन अभागा विकल-विह्वल नहीं हो उठेगा? उसके कम्पित अधरों को चूम लेने के लिए, उसकी कोमल देह-वल्लरी को अपने बाहु-पाश में वेष्टित कर लेने के लिए किसका हृदय पागल नहीं हो उठेगा? वही मालती हर घड़ी मेरे पास रहती है और एक अव्यक्त ज्वाला में हृदय प्रतिक्षण सुलगता रहता है। हाय! मैं कैसे अपनी मनोवेदना मालती पर प्रकट कर सकता हूँ?

एक-एक करके, छः बजने के बाद तीस मिनट बीत गये। मालती अब बिलकुल निराश हो गयी

थी। उसने धीरे-धीरे इस बात का निश्चय करना प्रारम्भ कर दिया था कि वह अब एकदम प्रतीक्षा नहीं करेगी, सीधे घर लौट जायगी। एक-एक पल मन में एक आकुल स्पन्दन उत्पन्न कर रहा था। खेल की आरम्भिक दो घण्टियाँ बज चुकी थीं। हमारी निराशा निश्चय के रूप में बदली जा रही थी। इतने ही में मोटर की चिर-परिचित हॉर्न-ध्वनि सुन पड़ी। निराशा में जीवन पड़ गया। हम लोग उल्लास से उछल पड़े। सचमुच ही वह रामनाथ की कार थी।

केवल एक क्षण। तीसरी घण्टी बजने वाली थी। मोटर का द्वार खुला। प्रेम दौड़ी। क्षण भर में उसने मालती को अपनी भुजाओं में कसकर चूम लिया। मालती का सारा मान-अभिमान न-जाने कहाँ विलीन हो गया। उसने प्रेम के गालों पर एक स्नेह-जड़ित थप्पड़ जमा दिया।

मेरा हृदय स्पन्दित हो उठा। जी में आया कि हाय! मैं प्रेम ही क्यों नहीं हुआ? तब मुझे भी इस प्रकार खुले दिल से, लज्जा-संकोच से परे

रहकर, मालती का आलिङ्गन करने और चूमने का अधिकार होता, लेकिन …………

यह स्वप्न क्षण भर भी न टिक पाया। बॉक्स पहले से रिजर्व करा लिए गये थे। भिन्न-भिन्न भावनाओं का कल्लोल हृदय में छिपाये हुए हम लोगों ने सिनेमा-हॉल में प्रवेश किया।

❧

आज प्रतिहिंसा से मेरा हृदय उन्मत्त हो रहा है। प्रेम का मालती पर जो अनुराग था, उसे मैं किसी तरह सह सकता था; लेकिन यह रमानाथ! इस नीच को क्या सूझी कि यह मालती पर घात लगाये बैठा है! घर में सुशील-सुन्दर पत्नी है, फूल-सा कोमल बच्चा है और फिर भी यह हरकत छिः! आज मुझे यह मालूम हुआ कि यह इतना अपनापन, इतनी आत्मीयता किस लिए थी। मालती के भोले-भाले स्वभाव और सहज-स्नेहमय व्यवहार का वह अनुचित लाभ उठाना चाहता है। जैसे हो, मुझे मालती को सावधान करना पड़ेगा। ओः, वह कितनी नादान है, कितनी सरल!

मुझे अनायास ही सब मालूम हो गया है, किन्तु सरला मालती अभी तक इसे लक्ष्य नहीं कर सकी। उस दिन सिनेमा देखते-देखते मालती रो पड़ी थी और राधा के गाये हुए इस पद को बार-बार दोहराती रही थी—"अटल प्रेम से बने रहेंगे एक प्राण दो नाम सदा।" उसके बाद की घटनाएँ लिख सकूँ, इतना धैर्य और साहस मुझ में नहीं है, किन्तु, उन्हीं से मुझे रमानाथ का असली रूप मालूम हो गया।

सन्ध्या अभी नहीं हुई थी। मैं पागल-सा होकर छत पर टहल रहा था। इसी प्रकार के अनेक विचार, अनेक सङ्कल्प-विकल्प मेरे मन में उठ रहे थे। हृदय में एक विचित्र प्रकार के भारीपन का अनुभव हो रहा था। मैं जमीन पर लेट गया। आसमान में दो-एक तारे उग आये। एक ओर क्षीण चन्द्रमा का ज्योतिर्मय रथ भी दीख पड़ा। मैं अपने आप गुनगुनाने लगा—

'गोधूली की धूमिल बेला
बिता, लगाती रजनी मेला,

नभ में हँसता चन्द्र अकेला,
उसी समय उन्मत्त पवन में
निज स्वर भर जाते हो क्यों ?
ओ गायक ! गाते हो क्यों ?'

मालती न जाने कब से ऊपर आकर चुपचाप खड़ी थी । अब, पास आकर बोली—" गायकजी ! क्या गाया जा रहा है ? "

मैं उठकर बैठ गया ! बोला—" कुछ नहीं रानी ! तुम्हारा जी अब कैसा है ? "

मालती हँसने लगी । मुझे भी मालूम पड़ा कि प्रश्न कुछ बेतुका-सा हो गया है । बात बदलने के लिए मैंने कहा- " रानी ! क्या पढ़ रही हो ? "

" उमरखय्याम की कविताओं का अनुवाद है । मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता । तुम थोड़ा पढ़कर सुनाओ न ! "

मैंने पुस्तक मालती के हाथ से लेली और क्रम से एक-एक रुबाई पढ़ कर उसकी व्याख्या करने लगा । मालती निश्चल-निर्वाक् होकर मेरी बातें सुनने लगी ।

पढ़ते-पढ़ते मैं आत्म विस्मृत हो गया। क्षण-भर पहले उठनेवाले घातक विचार न-जाने-कहाँ विलीन हो गये। प्रेम की मादकता से शराबोर खय्याम की एक-एक रुबाई मैं पढ़ता जाता था और मालती तन्मय होकर सुनती जाती थी। मैं उसके मन में उठने वाली भाव-तरङ्गों को लक्ष्य कर रहा था, यद्यपि सन्ध्या की धूमिलता सघन हो जाने के कारण मैं उसके मनोभावों को ठीक-ठीक पढ़ नहीं पाता था। सुनते-सुनते सहसा वह उत्ते-जित होकर उठ खड़ी हुई और छत की दूसरी ओर जाकर खड़ी हो गयी। मैं थोड़ी देर तक चुपचाप जहाँ-का-तहाँ बैठा रहा। फिर उठकर मालती के पास गया। मैंने कहा—"रानी क्या हुआ?"

"कुछ नहीं! मैं अब नहीं सुन सकूँगी। कदाचित् यह मुझे नहीं सुनना चाहिये। मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है।"

"क्यों ऐसा होता है रानी?"

उसने उत्तर नहीं दिया। एक लम्बी उसाँस उसके मुँह से निकल गयी। उसने थोड़ी देर तक रुक कर कहा—"जगत् !"

उसके स्वर में एक प्रकार का कम्पन था, जो उसकी हृदय की गति का परिचय दे रहा था। अन्धकार अब अधिक सघन हो गया था। आकाश की थाली में तारों के दीपक जलाकर कोई अज्ञात पुजारी विश्व देवता की पूजा करने जा रहा था। उस पवित्र गोधूलि-वेला में, नीलम-से नीले आकाश के नीचे, विश्व की समस्त पावनता के साथ, मैंने जीवन में पहली बार हृदय के उच्छलित आवेग से मालती को चूम लिया।

मालती काँप उठी—"स्वामी! उफ्! तुमने यह क्या किया? क्यों मेरे संयम का बाँध तोड़ते हो?"

कह कर वह तेजी से नीचे उतर गयी। मैं अकेला अनन्त आकाश के नीचे खड़ा रह गया।

❦

उस रात की घटना ने मुझे इतना विचलित कर दिया कि मैं रात भर विकार की आग में

जलता रहा। मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि प्रातःकाल कैसे मैं मालती को अपना मुँह दिखा सकूँगा। मन में अनेक प्रकार की कल्पनाओं के प्रवाह उठ-उठकर मेरे हृदय को उन्मत्त बनाने लगे। कभी जी में आता कि घर छोड़कर चल दूँ और कभी......

लेकिन प्रातःकाल जब सहसा ही मालती से मुठभेड़ हो गयी तो उसके मुँह पर रात की घटना का कोई भी चिन्ह न दीख पड़ा, जैसे कोई बात ही न हुई हो। प्रति दिन की भाँति ही वह सरलतापूर्वक मुझ से मिली और बातें की। मेरी अन्तरात्मा काँप रही थी, किन्तु वह गम्भीर और शान्त थी। उसके मुँह पर एक प्रकार की गम्भीर उदासी फैली हुई थी। मैं उसकी ओर देखने का साहस न कर सका।

इसके बाद से मालती के जीवन में एक अद्भुत परिवर्त्तन हो गया। उसकी हास्य-प्रियता न-जाने कहाँ खो गयी। उसने लोगों से मिलना-जुलना सहसा ही बन्द कर दिया। हर घड़ी

पागल सी बनी कुछ सोचा करती। कभी हँसती तो ऐसा जान पड़ता कि उस हास्य में उसके हृदय का तीव्र विषाद छिपा हुआ है। उसका यह भाव देख-कर मैं आत्म-धिक्कार की भावना से अन्दर-ही-अन्दर घुटा करता था, पर हाय! मेरे पास मालती-की इस वेदना का क्या प्रतिकार था?

मालती के इस भाव-परिवर्त्तन से रमानाथ ने बड़ा अनुचित लाभ उठाया। वह उससे हिलने-मिलने और अधिक कृपा-पात्र बनने का प्रयत्न करने लगा। उसकी उदासीनता का वह न जाने क्या अर्थ लगाता था। अब वह प्रेम को बहुत कम अपने साथ लाता था, कहता कि उसका स्वास्थ्य आज-कल ख़राब है। मालती के मन में भी प्रेम के प्रति पहले जैसा आकर्षण न दीख पड़ता था। दिन इसी प्रकार के अभिनय में बीतते जा रहे थे।

रामनाथ मेरी ओर देखकर कुटिल हास्य करता और मैं जी मसोस कर रह जाता था। अन्दर ही अन्दर मैं दिन-रात घुला करता था,

पर मालती से कुछ कहने का साहस न होता था।
रामनाथ का यह व्यवहार कुछ दिन यों ही चला।

❧

कुछ समय बाद—

एक दिन सहसा ही प्रेम मोटर लेकर दौड़ी आयी। आकर मालती के पैरों पर गिर पड़ी—
"बहनजी उनकी हालत बड़ी खराब है। इस बार उन्हें बचा लो। तुम्हें बहुत याद कर रहे हैं।"

हम लोग प्रेम के घर गये। रमानाथ की रोग-शय्या के चारों ओर हम खड़े हो गये। उसकी अन्तिम साँसें चल रही थीं। उसने एक बार मालती की ओर देखा और कराहा, जैसे हृदय में कोई टीस उठ रही हो, फिर उसने मालती की ओर हाथ जोड़े। बोला—"बहनजी! मुझे माफ कर देना।"

मालती की आँखें भर आयीं। उसने अलौकिक शान्त भाव से रमानाथ के सिर पर हाथ फेरा। बोली—"भाई! मैं तुम्हें दिल से माफ करती हूँ और जगत्! मैं तुम्हें भी माफ करती

हूँ; तुम्हें चाहिए की तुम भी रमानाथ को क्षमा कर दो। इनके लिए सबसे अधिक क्रोध तुम्हारे ही मन में था। तुम समझते थे कि इनका व्यवहार मैं समझ नहीं पाती, लेकिन यह बात गलत थी। समझकर भी मैं उदासीन ही रहना चाहती थी। भाई! मैं स्त्री हूँ। स्त्री की आँखों से पुरुष की कोई भी गति-विधि छिपी नहीं रहती; लेकिन तुम लोगों का अपराध ही क्या था! यह दो दिन की दुनियाँ है और क्षणभङ्गुर शरीर है। इसमें न जाने कितनी वासना, कितनी आकांक्षाएँ और कितना उन्माद भरा हुआ है! गलतियाँ सभी से होती हैं, किन्तु सच्चे हृदय का पश्चात्ताप ही उसका असली प्रतिकार है। सच्चे पश्चात्ताप के दो खोर आँसू संसार की सारी कलुषता धो सकते हैं। भाई! सच्चे हृदय से तुम भी इन्हें क्षमा कर दो।"

सारा संसार निर्वाक था, केवल मालती बोल रही थी। उसका बोलना खत्म हुआ और रमानाथ ने एक हिचकी ली, फिर सब कुछ खत्म हो गया।

संसार निस्पन्द था और हमारे हृदय स्पन्दित हो रहे थे।

आज मैं फिर जगदानन्द हूँ और मालती की अखण्ड साधना भी चल रही है। अतीत के घावों को काल की लहर ने भर दिया है, किन्तु स्मृति की हलकी-सी टीस अब भी कभी-कभी उठा करती है।

जीवन अनन्त-साधना का पथ है, किन्तु....

संसार की समस्त दुर्बलता का रहस्य इस एक 'किन्तु' में ही भरा हुआ है।

अपराधी का हृदय

[क]

न डूबते ही बगीचे की चारदिवारी लाँघकर वीरेन्द्र एक सघन आम के पेड़ पर जा चढ़ा। पेड़ के पास ही पक्के घाट का तालाब है। उसकी सीढ़ियाँ सङ्गमर्मर की हैं, चारों कोनों पर काले पत्थर की नग्न स्त्री-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। जल में एक सुसज्जित बोट तैर रहा है, मानों जल-विहार के लिए आने वाले किसी अतिथि की प्रतीक्षा कर

रहा हो। वीरेन्द्र ने अपनी घृणा भरी आँखें उधर से फेरलीं। सामने विस्तृत उद्यान है। उद्यान में कहीं लता-गृह हैं, कहीं क्रीड़ा-उद्यान हैं, और कहीं-कहीं सङ्गमर्मर की चौकियाँ पड़ी हुई हैं। सामने रङ्ग-विरङ्गे बहुमूल्य पत्थरों और शीशों से जड़ा हुआ भव्य प्रासाद है। वीरेन्द्र की अपलक आँखें स्थिर होकर वहीं अटक गयीं। उसकी आँखों में कौतूहल नहीं, घृणा और विद्रोह भरा हुआ था। वह मन-ही-मन सोचने लगा—"संसार में यह विषमता क्यों है? किस अधिकार से ये अकर्मण्य इतना वैभव पा लेते हैं और हम जैसों को भूखों मरना पड़ता है? कौन न्याय इन्हें इतना देता है और हमें कुछ भी नहीं देता?" वीरेन्द्र की मुट्ठियाँ स्वतः ही बँध गयीं। उसने कहा—"एक दिन ये महल खँडहर हो जायँगे और विलास-वैभव में डूबे हुए ये मद-मत्त प्राणी केवल कंकाल रह जायँगे, फिर भी क्यों इनमें इतनी ऐंठ, इतना उन्माद भरा हुआ है?" वीरेन्द्र घृणा-पूर्वक हँस पड़ा और उसके हाथों ने अनजानते ही वृक्ष की डालियों को झकझोर दिया।

सहसा विद्युत्-ज्योति से समस्त सौध उद्-भासित हो उठा। मार्बेल-मण्डित दीवारों में आलोक-रश्मियाँ प्रतिफलित होने लगीं। खिड़कियों पर पड़े हुए रंगीन रेशमी पर्दों से छनकर आने वाले प्रकाश से बगीचे में म्लान आलोक फैल गया। सिंहद्वार पर दोनों ओर बनी हुई परियों की नग्न मूर्ति के स्तनों को वेष्टित करता हुआ प्रकाश-स्तम्भ जगमगा उठा। रजनीगन्धा ने अपने प्राणों का उन्मत्त सौरभ वायु में विकीर्ण कर दिया। मंद-मंद वायु फूलों का सौरभ लेकर इस-उस ओर डोल गयी। वीरेन्द्र को ऐसा मालूम पड़ा मानो वह नरक के अग्नि-कुण्ड में झुलस रहा हो। उसने अपना दाहना हाथ माथे पर फेरा, आँखें मलीं और फिर अन्यमनस्क होकर बैठ रहा।

कुछ क्षण इसी नीरवता में बीते। अनन्तर सौध का पार्श्वद्वार खुल गया। प्रहरी कतार बाँधकर सजग भाव से खड़े हो गये। वस्त्राभरणों से अलंकृत स्त्रियों का समूह, क्रम से, प्रहरियों के द्वारा निर्दिष्ट पथ से महल में प्रवेश करने

लगा। सभी स्त्रियों के मुँह पर लम्बे घूँघट थे और उनके आभरणों से निकली हुई सम्मिलित ध्वनि एक अत्यन्त श्रुति-मधुर शब्द उत्पन्न कर रही थी।

क्षण भर में यह कोलाहल शान्त हो गया। पहले ही की भाँति निस्तब्धता चारों ओर फैल गयी। वीरेन्द्र का हृदय विस्मय से अभिभूत हो रहा था। जिन गुरुदेव के आगमन से समस्त नगर में हलचल मची हुई थी, जिनके प्रभाव और तेजस्विता के सम्मुख सभी लोग नत-मस्तक हो जाते थे, जो इस नगर में भगवान् के अवतार माने जाते थे और जिनकी एक कृपा-कटाक्ष से नर-नारी अपने आप को कृतार्थ मानते थे, वीरेन्द्र ने उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ सुनी थीं। आज वह प्रत्यक्ष रूप से यह लीला देखनेवाला था। उसकी इच्छा हुई कि वह किसी तरह अन्दर घुस कर वहाँ का दृश्य भी देखे, लेकिन अन्दर जाने का कोई उपाय न था। दरवाजों पर कड़ा पहरा था, खिड़कियों में जापानी रेशम के चित्राङ्कित पर्दे लटक रहे थे। वीरेन्द्र निरुपाय होकर जहाँ-का-

वहाँ बैठा रह गया। उसने पेड़ की डाली मजबूती से पकड़ ली। उसके मन में अनेक प्रकार की विचार-तरङ्ग लहराने लगीं। वीरेन्द्र आत्म-विस्मृत होकर न-जाने-कितनी कल्पनाओं में लीन हो गया।

टन्-टन् करके घड़ियाल ने ग्यारह बजाये। वीरेन्द्र चौंक पड़ा—ओः! कितनी रात हो गयी और दर्शनार्थिनियों की दर्शन-लालसा अभी तृप्त न हुई! वीरेन्द्र कब तक उनकी प्रतीक्षा में बैठा रहेगा? उसने थक कर एक अँगड़ाई ली और सोचने लगा कि अब उसे क्या करना चाहिए। इतने ही में महल के पिछवाड़े का एक छोटा-सा द्वार खुल गया और उसमें से होकर स्त्रियों का समूह उतरने लगा। स्त्री-मण्डल से घिरे हुए एक अपूर्व सुन्दर और तेजस्वी पुरुष ने उद्यान में पदार्पण किया। वीरेन्द्र आँखें मलकर देखने लगा—क्या यही गुरुदेव हैं?

हाँ, वह गुरुदेव ही थे। अपूर्व सुन्दर उनका शरीर था, आँखें ज्योति से जगमग, ललाट उन्नत, मेचक-कुञ्चित केशराशि, पीत परिधान, गले में

माला और दुपट्टा—वीरेन्द्र उनके आकर्षक रूप को देखकर स्तब्ध रह गया। हे भगवान् ! धर्म के नाम पर हमारे यहाँ कितना अनाचार हो रहा है ! वीरेन्द्र का माथा घूम गया। थोड़ी देर वह अवसन्न भाव से जहाँ-का-तहाँ बैठा रह गया।

फिर वह सावधान हुआ। उसने देखा, गुरु-देव ने हाथ में ली हुई बंसी में फूँक मारी और बाँसुरी के स्वर के साथ-ही-साथ समस्त स्त्री-समुदाय भक्ति-विह्वल होकर नृत्य करने लगा। गुरुदेव स्वयम् भी उनके मध्य में ठुमक-ठुमक कर, गति और ताल के साथ नाचने लगे। ताल-ताल पर थिरकते हुए उन चरणों की ध्वनि के साथ मिल कर नूपुर की ध्वनि एक अपूर्व संगीत उत्पन्न कर रही थी। स्वभाव से सरल और भोलीभाली धर्म-भीरु स्त्रियाँ आत्म-विस्मृत हो रही थीं। नृत्य के श्रम से उनके मस्तक अथवा कपोलों पर ढलक आने वाले स्वेद-बिन्दुओं को जब गुरुदेव स्वयम् अपने हाथों से पोंछ देते, तब वे अपने जीवन-जन्म को सफल मानने लगतीं और जब उनके श्रम-

शिथिल वस्त्रों को संभाल देते तो वे कृतकृत्य हो जाती थीं।

नृत्य चल रहा था। विद्युज्योति वैसी ही प्रखर आलोक फैला रही थी, किन्तु वीरेन्द्र की आँखों में अन्धकार था। उसे भ्रम होने लगा कि वह जाग रहा है या स्वप्न देख रहा है। उसने अपनी आँखें मलीं। शरीर में चेतना आयी। उसने इन्द्र का अखाड़ा अपनी आँखों के सामने देखा।

सहसा गुरुदेव एक षोड़सी बालिका का हाथ पकड़कर नृत्य-शील चरणों से एक ओर अग्रसर हुए। उनके आगे बढ़ते ही बिजली की बत्तियाँ बुझा दी गयीं और स्त्रियाँ झटपट किसी पथ से अदृश्य हो गयीं। क्षण भर के लिए चारों ओर अन्धकार फैल गया। वीरेन्द्र साँस रोक कर यह इन्द्रजाल-सा दृश्य देखता रह गया।

[ख]

वीरेन्द्र जिस पेड़ पर बैठा था, सहसा उसी के नीचे कुछ शब्द सुन पड़ा, जैसे किसी के बात-

चीत करने की आवाज हो! वृक्ष के नीचे अन्धकार अधिक सघन हो गया था, इसलिए कुछ दीख न पड़ता था। क्षीण चन्द्रमा की मलिन रश्मियाँ तरु-पत्रों के अन्तराल से धरती पर डोल रही थीं, उसी क्षीण प्रकाश में वीरेन्द्र ने दो छाया-मूर्तियाँ देखीं। वह कौतूहल-भरे हृदय से चुपचाप सब देखने-सुनने लगा।

"मुझे छोड़ दो, मुझे जाने दो" किसी ने कातर और टूटते हुए स्वर में कहा।

फिर दूसरा कोमल और मधुर स्वर सुन पड़ा—"शान्ता तुम घबराती क्यों हो? सब लोग तुम से ईर्ष्या करेंगे। आज तुम पर गुरुदेव की कृपा हुई है।"

"मुझे कृपा नहीं चाहिये। मेरा हाथ छोड़ दीजिये।"

शान्ता की कोमल बाहु-बल्लरी पर हाथ फेरते हुए गुरुदेव ने कहा—"यह हाथ क्या सहज ही छोड़ देने लायक है शान्ता?" और फिर एक दीर्घ निःश्वास की ध्वनि सुन पड़ी।

"हाय, मुझे छोड़ दो! पाप लगता है!"

"पाप?" गुरुदेव हँसे—हुँः! पाप? गुरु के निकट कुछ भी गोपनीय नहीं है। शान्ता! गुरु के एक चुम्बन से अभिषिक्त युवती अमरलोक में शाश्वत सुख की अधिकारिणी होती है। इधर आओ!"

गुरुदेव ने उसे अपनी ओर खींचना चाहा, पर वह बल-पूर्वक अलग हो गयी—"भगवान्! मेरी लाज बचाओ!" वह चिल्लायी, इतने ही में गुरुदेव ने उसे पकड़ लिया। वह फिर चिल्लायी—"हाय! क्या भगवान् भी मेरी पुकार न सुनेंगे!"

"यहाँ कोई सुनने वाला नहीं है शान्ता! केवल मैं हूँ और तुम हो। और,............और देखो, यह शान्त-पवित्र रात्रि चुप-चाप फैली हुई है। इसमें भगवान् की विभूति बिखरी हुई है। ऐसे समय में शान्ता, दो हृदयों का सम्मिलन कितना मधुर होगा! आओ, आज जी भर के मैं तुम्हें प्यार करलूँ!" गुरुदेव ने उसे अपनी ओर खींचा। वह क्रुद्धा नागिन की तरह फुँकार-

कर दूर हट गयी—"पापी ! दुरात्मा ! इसीलिए क्या तूने यह प्रपञ्च रच रखा है ? क्या इसी प्रकार तू अपनी वासना की अग्नि में हमारे सतीत्व का होम दिया करता है ?" वह क्रोध से काँप रही थी। उसके मुँह से और शब्द न निकले। इतने ही में गुरुदेव घुटनों के बल उसके सामने बैठ गये—"हाँ, यह सब तुम्हारे ही लिए है रानी ! तुम्हारे रूप की ज्वाला में जल मरने के लिए मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। अपने जीवन की सारी तपस्या, सारी साधना और सारा पुण्य मैं तुम्हारे लिए खो सकता हूँ। जब से मैंने तुम्हें देखा है, मैं अपने को भूल गया हूँ। देवी ! मैं तुम्हीं से तुम्हारे प्रेम की भिक्षा माँगता हूँ ! यह सारा ऐश्वर्य, सारा वैभव........"

बात पूरी भी न हो पायी थी कि शान्ता ने उछलकर एक लात गुरुदेव की छाती में मारी। वह कदाचित् क्षण भर के लिए जमीन पर गिरे और उठकर फिर बोले—"ओः ! कितने कोमल चरण हैं ! इन चरणों के स्पर्श से भी हृदय में

एक अपूर्व पुलक-कम्पन की सृष्टि होती है। शान्ता! अब और कितना मान करोगी? अब तुम्हें मुझ से कोई अलग नहीं कर सकता।"

कहकर गुरुदेव ने एक ही झपट में शान्ता को अपने बाहु-पाश में लपेट लिया। वह जाल में फँसी हुई हिरनी की तरह छटपटाने लगी—"भगवान्! मेरी रक्षा करो!"

गुरुदेव ने एक विकट हँसी हँस कर कहा—"अब कोई भगवान् तुम्हारी बात सुननेवाला नहीं है। कोई तुम्हें बचानेवाला नहीं है। अब तुम मेरे हृदय की देवी हो।" उसने बल-पूर्वक शान्ता के शरीर का वस्त्र खींच लिया, और.........

वीरेन्द्र के हृदय का रक्त खौल उठा। वह किसी तरह अब तक यह नारकीय दृश्य देखता रहा। अब देखना असम्भव था। उसने अपनी कमर में लटकी हुई कटार को खूब कसकर पकड़ लिया। मन-ही-मन उसने कहा—"भगवान् चाहे न सुनता हो, किन्तु उसी के तत्वों से बना हुआ एक इन्सान सब कुछ सुन रहा है!" और वह

पागल हो गया, आत्म-विस्मृत हो गया। नारी का यह दारुण अपमान देखना उसे सह्य न हो सका। एक ही छलांग में वह पेड़ से नीचे कूदा और अपने पूरे बल से वह कटार गुरुदेव के शरीर में उसने भोंक दी। एक हल्की चीख, रक्त की एक पतली धारा और सब कुछ समाप्त हो गया।

शान्ता एक ओर खड़ी काँप रही थी। दृढ़-धीर स्वर में वीरेन्द्र ने कहा—"बहन! तुम कहाँ जाओगी?"

शान्ता इसके सिवा और कुछ न बोल सकी—"हाय! तुम ने यह क्या किया?"

[ग]

गुरुदेव की हत्या का सम्वाद दूसरे दिन चारों ओर फैल गया। राह-बाट, गली-बाजार, जहाँ देखिए इसी हत्या की चर्चा हो रही थी। दैनिक पत्रों में भी हत्या का मनोरञ्जक विवरण प्रकाशित हुआ। भक्त नर-नारियों के हृदय हाहाकार कर उठे। पुलीसवालों को दौड़-धूप करने का एक जरिया मिल गया। अपराधी का पता न था, अप-

राध का भी नहीं। दुनियाँ केवल यह जान सकी कि किसी ने बर्बरता-पूर्वक गुरुदेव की हत्या कर डाली है।

कई दिन बीत गये। पुलीस अपराधी का पता न लगा सकी और अन्त में एक निरपराध व्यक्ति हत्या के अभियोग में पकड़ा गया। अदालत में मुकद्दमा चलने लगा और पुलीस अपराध प्रमाणित करने के लिए नाना प्रकार के उचित-अनुचित उपायों का सहारा लेने लगी।

वीरेन्द्र यह सब देखता और मुकद्दमे का विवरण अखबारों में पढ़ा करता था। उसने आवेश में जो कुछ कर डाला था, उसके लिए उसके मन में पछतावा नहीं था और न वह मृत्यु के भय से डरता ही था; फिर भी स्वतः ही पुलीस को आत्म-समर्पण कर देना उसे आवश्यक न मालूम पड़ा; किन्तु जब एक निर्दोष व्यक्ति को पकड़कर जबर्दस्ती उसे दोषी साबित करने का प्रयत्न किया जाने लगा तो वीरेन्द्र का हृदय विचलित हो उठा। उसके मन में एक द्वन्द्व चलने लगा और उसने

अन्त में आत्म-समर्पण कर देने का ही निश्चय किया।

इसके बाद इस घटना का रूप ही बिलकुल बदल गया। दूसरे दिन दैनिक पत्रों में इस सम्बन्ध में जो सम्वाद प्रकाशित हुए उनका सारांश यह है—

गुरुदेव हत्या-काण्डवाले मामले की विगत पेशी में एक ऐसी अद्भुत घटना घटित हुई है, जिसने इस मामले की दिशा ही बदल दी है। माननीय विचारपति जिस समय इजलास में बैठे अभियुक्त के वकील की जिरह सुन रहे थे, उसी समय अदालत में एक सभ्य, सुशिक्षित और सुदर्शन नवयुवक ने पहुँचकर माननीय विचारपति से कहा कि "न्यायालय जिसे बाँधकर दोषी साबित करने की चेष्टा कर रहा है, वह दोषी नहीं है। दोषी मैं हूँ। मेरा नाम वीरेन्द्र है। मैं ग्रेजुएट हूँ। दरिद्रता और बेकारी से पीड़ित होकर मैं केवल अपने कौतूहल-शान्ति के लिए गुरुदेव के बाग में घुस गया था। मैं जानता था कि ऐसे

साधु-सन्यासी भोली-भाली जनता की भक्ति और विश्वास से अनुचित लाभ उठाकर उनके द्रव्य को पानी की तरह बहाते और ऐश-आराम में खर्च करते हैं। अतः, उस बाग में जाने का मेरा यह भी उद्देश्य था कि यदि सम्भव हो तो अपने खर्च भर के लिए उस मुफ्त के धन में से कुछ हिस्सा ले आऊँ। किन्तु, भगवान् को मेरे द्वारा एक महान् कार्य की साधना करानी थी। मैंने वहाँ जो कुछ देखा, उसने मुझे उन्मत्त बना दिया; वह दृश्य किसी भी इन्सान को पागल बना देने की सामर्थ्य रखता था। मैंने देखा कि गुरुदेव न केवल जनता के धन का ही, किन्तु घर-घर की बहू-बेटियों के सतीत्व का भी सर्वनाश कर रहे हैं। मैंने देखा कि वे पचीसों सम्भ्रान्त घर की बहनों के साथ निन्दनीय छेड़खानियाँ कर रहे हैं, और उनके पवित्र शरीर को अपने कलुषित हाथों के स्पर्श से अपवित्र बना रहे हैं। मैंने अपनी आँखों के सामने एक बहन को अपमानित होते देखा। मैंने देखा कि धर्म के लिए जिसकी ख्याति है, धर्म के नाम

पर जिसका पेट पलता है, और धर्म-भावना से सहस्रों बहनें जिसकी शरण जाती हैं, वह कामी नर-पिशाच पशु बनकर उनका धर्म नष्ट करना चाहता है, उन्हें अपमानित कर रहा है। मातृ-शक्ति का यह अपमान मुझ से देखा न गया, मेरा खून खौल उठा, मैं आत्म-विस्मृत हो गया, पागल हो गया और मैंने उस नारकीय जीव की हत्या करके न-जाने कितनी बहनों को पतित होने से बचा लिया। मुझे आशा और विश्वास है, कि जिस किसी भारतीय युवक के हृदय में अपनी मातृ-जाति के प्रति सम्मान होगा, जिसकी धमनियों में रक्त का प्रवाह प्रवाहित होता होगा, जिसकी भुजाओं में बल होगा, वह ऐसे अवसर पर सदा ही ऐसे नर-पशुओं को उचित शिक्षा देने में तत्पर रहेगा। मुझे स्वयम् यदि मौक़ा मिला तो मैं ऐसे हजारों गुरुदेवों की हत्या करने में भी आगा-पीछा न करूँगा।" युवक गिरफ्तार कर लिया गया है और कथित बालिका का बयान अगली पेशी में होने वाला है। उल्लिखित युवक के बयान

से एक अत्यन्त अन्धकारपूर्ण दिशा में प्रकाश पड़ता है। देश में ऐसे भण्ड साधु-महन्तों की कमी नहीं, जो धर्म के नाम पर अधर्म और अपनी कलुषित वासनाएँ चरितार्थ करते हैं। जान पड़ता है कि यह प्रश्न वैयक्तिक नहीं, बल्कि राष्ट्रीय रूप धारण करेगा। यदि उक्त युवक का बयान ठीक है तो यह दण्ड का नहीं, बल्कि पुरस्कार का अधिकारी है। देखना है, आगे चलकर यह मामला कैसा रूप धारण करता है।

[घ]

शान्ता वीरेन्द्र से जेल में मिलने गयी। वीरेन्द्र शान्त और गम्भीर था। शान्ता विह्वल हो रही थी। वह वीरेन्द्र के पैरों पर लोट गयी—"भाई, यह तुमने क्या किया?"

"वही, जो मुझे करना चाहिए था। बहन मैंने समझ-बूझ कर ही इस यज्ञ में आहुति दी थी।"

"लेकिन तुम्हारा बयान ठीक नहीं है।"

"क्यों? किस तरह?"

"मैं तुम्हें अपने लिए फाँसी न चढ़ने दूँगी।"

वीरेन्द्र मुस्कराया—"तुम क्या करोगी शान्ता ?"

"मैं कुछ भी करूँ, पर अपने लिए फाँसी तुम्हें न चढ़ने दूँगी।"

"बहन, किसी अज्ञेय रहस्य की प्रेरणा से हमारा-तुम्हारा सम्मिलन हुआ है। तुम भगवान् के उस पावन अनुष्ठान को अधूरा रह जाने देने का प्रयत्न न करो। मातृ-जाति की सम्मान-रक्षा के लिए मैं फाँसी चढ़ूँ, इससे बड़ा मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है ?"

शान्ता ने कुछ कहा नहीं, झर-झर उसकी आँखों से आँसू झर पड़े। वह निःशब्द रोने लगी।

वीरेन्द्र ने कहा—"शान्ता तुम मुझे क्या करने को कहती हो ?"

"तुम अपना बयान बदल दो। वकील तुम्हें बचा लेंगे !"

"बहन ! इस झूठी ममता में न पड़ो। भगवान् की इच्छा यही है कि इस पावन अनुष्ठान में मेरी पूर्णाहुति हो। मेरे रक्त की एक एक बूँद

भारतीय नवयुवकों के हृदय में महिलाओं के प्रति सम्मान के भाव उदय करेगी और उन्हें दृढ़ तथा मजबूत बनावेगी। तुम इस सम्बन्ध में मुझ से और कुछ न कहना।"

शान्ता थोड़ी देर चुप, कुछ सोचती रही। फिर एक दृढ़ प्रतिज्ञा का भाव उसके मुँह पर चमक उठा। उसने कहा—"भाई, अब मैं जाती हूँ।"

वह चली गयी। जाते समय एक शान्त-स्निग्ध दृष्टि वीरेन्द्र पर डालती गयी।

[७]

उस दिन अदालत में बड़ी भीड़ थी। शान्ता का बयान होने वाला था। उत्सुक जन-समूह से सारा कमरा भरा हुआ था। यथा समय अदालत बैठी। वीरेन्द्र कटघरे में खड़ा था। शान्ता का बयान लिया जाने लगा।

शान्ता ने अपने बयान में कहा—"हत्या सचमुच मैंने की है। वीरेन्द्र के पास जो कटार पायी गयी है, वह वास्तव में मेरी है। मुझ पर

स्नेह होने के कारण, मुझे बचाने के लिए, वे अपने को अपराधी बतला रहे हैं। गुरुदेव के नाम से जिस मनुष्य-रूपधारी पशु की पूजा की जा रही थी, वह एक दुराचारी और लम्पट पुरुष था। अनेक स्त्रियों के आग्रह से मैं भी उसके यहाँ जाने लगी थी। वह पहली ही बार से मेरी ओर कुचेष्टा करने लगा था। पहले मैं समझ न सकी थी, जब समझी तो उसे दण्ड देने का मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया। उस दिन मैं इस बात के लिए तैयार होकर ही गयी थी और मुझे मौका भी मिल गया। वह मुझे अपमानित करना चाहता था, तभी मैंने कटार से उसकी हत्या कर डाली। हत्या करने के बाद जब मैं चारदिवारी फाँद कर बाहर जा रही थी, मुझे वीरेन्द्र मिले और इन्होंने मुझ से कटार छीन ली।"

शान्ता के बयान में इतनी दृढ़ता इतनी तेजस्विता और इतनी गम्भीरता थी कि सभी लोग चित्रलिखे से खड़े रह गये। वीरेन्द्र अवाक् हो कर शान्ता की ओर देखने लगा, पर शान्ता

ने उसकी ओर एक बार भी न देखा। शान्ता जिरह में भी वैसी ही दृढ़ और गंभीर बनी रही और वकीलों के अनेक प्रयत्न करने पर भी अपने बयान से टस-से-मस न हुई।

जब अदालत उठ गयी तो क्षण भर के लिए दोनों मिले। सामना होते ही शान्ता की आँखों में आँसू भर आये। वीरेन्द्र ने शान्त गम्भीर भाव से पूछा—"शान्ता! इससे क्या होगा?"

"होगा क्या? मरना ही होगा तो साथ मरेंगे।"

"लेकिन इससे लाभ क्या है?"

अपनी बड़ी-बड़ी आँसू से भरी आँखों को ऊपर उठा कर शान्ता ने केवल एक बार वीरेन्द्र की ओर देखा, कुछ बोली नहीं; मानों उसकी दृष्टि ने ही कहा—जिस शरीर और जीवन की तुमने रक्षा की है, वह तुम्हारा ही है। तुम्हें ही अर्पित है।

[च]

लगातार कई महीनों तक निरन्तर पेशियाँ होती रहीं। देश भर के पत्रों ने एक स्वर से

शान्ता और वीरेन्द्र को मुक्त कर देना ही उचित और न्यायसङ्गत बतलाया। और अन्त में—

शान्ता निर्दोष प्रमाणित हुई। वीरेन्द्र को सात साल का साधारण कारावास दण्ड मिला। विचारकों ने अपने फैसले में लिखा कि यद्यपि हत्या एक सदुद्देश्य के लिए हुई है और प्रत्येक मनुष्य, जिसमें मनुष्यता का कुछ भी अंश है, उस परिस्थिति में वही करता जो अभियुक्त ने किया है, फिर भी हत्या हत्या ही है। कानून खून के लिए खून चाहता है; किन्तु, अभियुक्त की शिक्षा, उसके ऊँचे मनोभाव और सत् प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए, हम, कम-से-कम जो सजा इसे दे सकते थे, सहानुभुति के साथ, दे रहे हैं।

जब फैसला सुनाया गया, शान्ता को गश आ गया। असंख्य पुष्पहारों और जयजयकारों के मध्य में वीरेन्द्र ने विदाई ली—एक युग के लिए संसार के विलास-वैभव, हास्य-विनोद और सुख-दुःख से चिर विदा! किन्तु, उसके मुँह पर न हर्ष था, न विषाद। एक अखण्ड शान्ति, एक

अटल तेज उसके मुख-मण्डल पर विराजमान था। वह सिपाहियों से घिरा हुआ चल पड़ा। हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ झनझनाकर चीत्कार कर उठीं।

शान्ता का चित्त स्वस्थ हुआ। उसने बेड़ियों की झनकार सुनी और न जाने किस अज्ञात उद्देश्य से भूमि पर मस्तक रख कर नमस्कार किया। फिर, आँसू भरी आँखों से अनन्त शून्य की ओर देखने लगी।

[छ]

सात साल की अवधि कितनी लम्बी होती है! हम-आप जिस जीवन की कल्पना कर के सिहर उठेंगे, वीरेन्द्र उसी सूने जीवन के दिन बिता रहा था। नीचे हरी दूब बिछी हुई थी और ऊपर नीला आसमान फैला हुआ था—और, कितने वसन्त, कितने ग्रीष्म, कितनी वर्षाएँ आकर चुपचाप निकल जाती थीं! वीरेन्द्र क्या इसका हिसाब रख सकता था? भादों की अँधेरी रात में वर्षा की झड़ी लग जाती, बादल गरजने लगते, बिजली चमकने लगती, तब वीरेन्द्र का हृदय एक अज्ञात

वदना से हाहाकार करने लगता। जेठ की लम्बी कर्महीन दुपहरिया में वह अलस भाव से दिगन्त की ओर देखता रह जाता और बसन्त ऋतु में जब प्रभात-वायु के साथ कोयल कूक उठती तो उसके हृदय में एक हल्की-सी टीस कसक उठती थी। वह मौन, शान्त, निस्तब्ध होकर जीवन का यह-वह पहलू देखता, सोचता और सो जाता। निद्रा—यह कितने दुःख शोक, विरह-वियोग और यातनाओं की विस्मृति की औषधि है, ईश्वरदत्त।

जिस हृदय की तस्वीर हम देख रहे हैं, यदि हमारी कलम की नोक उसे चीर कर उसकी धुँधली रेखा आपके सम्मुख व्यञ्जित कर सके तो आप सिहर उठेंगे; फिर भी आप चलें, हम आपको वीरेन्द्र के हृदय का स्पन्दन सुनने की इजाजत देंगे।

जेल की सन्ध्या। वीरेन्द्र अपने कमरे में पड़ा है। नेत्र अर्ध-निमीलित हैं। जगत् सूना है, चुप है; और उसका हृदय भी सूना है, चुप है। लेकिन, अन्धकार के आवरण को भेद कर दीवार पर एक चित्र की रेखाएँ उभर रही हैं, अभी

अस्पष्ट हैं, अब स्पष्ट होंगी, दिखेंगी तब आप भी देख पावेंगे, वह शान्ता की कमनीय मूर्ति है !

वीरेन्द्र के होंठ हिल रहे हैं। कुछ कह रहे हैं, क्या कह रहे हैं.... क्या आप यह जानना चाहते हैं ? उहुँक्, मैं कहूँगा तो मुझे पाप लगेगा, पर आप अधीर हैं—

"शान्ता ! देवी ! .... मैं ? उहुँक्.... हाँ, त्याग, आत्मसमर्पण ! कैसा पुनीत भाव ! कितना सौन्दर्य ! कितनी तेजस्विता ! जीवन .... जीवन एक सपना है। पलकों पर आता और खो जाता है। यह कठोर साधना, यह तपस्या,...... किस के लिए ? .... उहुँक्, मन इतना कमजोर हो जायगा ? नहीं, केवल कर्तव्य। कठोर कर्तव्य। शान्ता कौन है ? .... कौन है ? .... बहन ! ....

आप क्या अब और देखेंगे ? मोह और कर्त्तव्य का अन्तर्द्वन्द्व किस के मन में नहीं होता ? वीरेन्द्र को हम यहीं छोड़कर आगे बढ़ें।

आप क्या शान्ता के हृदय की कहानी भी

हम से सुनना चाहेंगे ? यह हम से न होगा। भगवान् ने जिसे हृदय दिया है, वे अपने कलेजे की धड़कन समझने की चेष्टा करेंगे तो उसी में शान्ता के हृदय की साकार मूर्ति उन्हें मिलेगी।

[ज]

जहाँ हमारी कहानी का अन्त होता है, वह आत्म-बलिदान, कर्तव्यपरायणता और तपस्या का श्रेष्ठ और सुन्दर दृश्य है। हम आपको वहीं, शान्ता के विवाह-मण्डप में, ले चलेंगे।

मण्डप में वर और वधू दोनों उपस्थित हैं। स्त्रियाँ मङ्गलगान कर रही हैं, पण्डित वेद-मंत्रों का उच्चारण कर रहे हैं, चारों ओर उल्लास और प्रसन्नता की धारा प्रवाहित हो रही है। वीरेन्द्र कन्या-दान करने की तैयारी कर रहा है।

संसार इतना बड़ा, इतना विशाल है, किन्तु मनुष्य कितना छोटा है, कितना सीमित है और कितना छोटा उसका संसार है! चारों ओर जहाँ हास्य और उल्लास बिखर रहा है, वहीं दो हृदयों में हाहाकार मचा हुआ है। सात वर्षों की कठोर

साधना और तपस्या के बाद, आज दो हृदय-कर्तव्य की वेदी पर अपना बलिदान कर रहे हैं।

शान्ता ने कब नहीं आत्मसमर्पण किया? वीरेन्द्र ने कब नहीं उसे अपने हृदय की समस्त लालसाएँ समर्पित करदीं? लेकिन............ इस लालसा के अश्व की बागडोर तो उसे ही कसनी है? शान्ता उसके कितने निकट थी, कितनी आसानी से वह उसे प्राप्त कर सकता था, लेकिन ऐसा करके क्या वह अपने कर्तव्य की कसौटी पर खरा उतर सकता था? उसे क्या जीवन भर आत्म-धिक्कार की ज्वाला में न जलते रहना पड़ता?

और, शान्ता ने किस अज्ञात आशा के सहारे किस विश्वास के बल पर अपने जीवन के ये सात साल बिताये थे? उन समस्त आशा-अभिलाषाओं की आज यह चिता जलायी जा रही है और उससे कहा जाता है कि तुम हँसो और वह हँसती है। संसार कैसी विडम्बना है! कितनी प्रतारणा!!

अब कन्यादान होने ही वाला है। वीरेन्द्र वर से कहता है—"भाई! यह अमूल्य निधि मैं

तुम्हें सौंपता हूँ। सदा सावधानी से इसकी रक्षा करना और अपने प्राणों के समान इसे प्यार करना।" फिर वह शान्ता से कहता है—" बेटी ! मेरा कर्तव्य आज पूरा हुआ। मैं तुम से उऋण हुआ। एक दिन मैंने तुम्हारी रक्षा की थी। आज अपने से भी बलिष्ठ और उत्तरदायी हाथों में तुम्हें सौंपता हूँ। तुम सुखी रहना और अपने इस अकिञ्चन भाई को कभी-कभी याद कर लेना।" उसकी आँख की कोरों में आँसू के दो बूँद दिखते हैं और मुँह से एक उसाँस निकल जाती है। होठों पर स्निग्ध हास्य की रेखा उसकी मनोवेदना की कथा कह रही है।

शान्ता के घूँघट का दरवाजा खोलकर आँसू की दो पवित्र बूँदें भूमि पर ढलक पड़ीं। संसार की समस्त व्यथा-कथा इन आँसुओं में निहित रही हो तो क्या आश्चर्य है !

दोनों हृदय हाहाकार कर रहे थे, किन्तु उनमें त्याग का तेज, कर्तव्य पालन की दीप्ति और आत्म-बलिदान की पावन आत्मा विकसित होकर संसार को पवित्रता का सन्देश सुना रही थी।

सावन-भादों

वन फिर आवेंगे—बादल गरजेंगे, बिजली चमकेगी, धरती के मन-प्राण सिहर उठेंगे, हवा में एक सोंधी सुगंध भर जायगी, फूल-पत्ते धुलकर कोमल-कोमल हो जायँगे, मोर नाचेंगे, मैना गावेगी, और, और भी न जाने क्या-क्या होगा, पर मेरे जीवन की मरुभूमि में अब कभी प्रेम की सजल वारिद-बूँदें न बरसेंगी। हाय! इस सावन की स्मृति में मेरे लिए कितना दर्द भरा है!!

एक वह भी सावन था ! रेवा भर आयी थी, उसमें डोंगियाँ तैरती थीं, बच्चे नहाते थे, युवतियाँ वस्त्र-समेट कर डुबकी लगा लेती थीं। उस पार हरा-हरा मैदान था, वृक्ष थे, झोपड़ियाँ थीं—स्वप्न की तरह फैली हुई। धरती और आसमान, दोनों ही विरहिणी की आँखों की तरह सजल हो गये थे। अपने नये मकान में आकर मैं ने देखा—वह मेरे हृदय की तरह कवित्वमय और सूना था। सामने भरा हुआ रेवा का वक्षःस्थल था और उस पार के स्वप्निल दृश्य मन पर एक अलस भाव का झिलमिल परदा डाल देते थे। मेरे मकान के सामने, कोने में, एक दुमंजिला मकान था। सामने छत थी और एक कमरा। कमरे में एक खिड़की थी, जो ठीक हमारे छज्जे की सीध में पड़ती थी। पहले-पहल जब देखा, वह बन्द थी।

संध्या को अपने नवीन-निर्जन गृह के शून्य वातायन से मैं ने जगत् का यह जगमग रूप देखा था—दिन भर बरसने के बाद पानी खुल गया था, रेवा के हृदय पर तैरती हुई डोंगियों से

माँझियों के ग्राम-संगीत की मधुर-कर्कश-ध्वनि शून्य में गूँजने लगी थी, घर-घर में दीपक जल उठे थे, उनका प्रकाश रेवा के जल में प्रतिबिम्बित हो रहा था—भग्न-हृदय-प्रेमी के मानस में प्रतिबिम्बित हो उठनेवाली अतीत स्मृतियों की तरह। बच्चे माँ का आँचल पकड़कर मचलने लगे थे, पूजा का थाल लेकर, मङ्गल-गीत गाती, स्त्रियाँ देव-मन्दिर की ओर जाने लगी थीं; मन्दिर से सान्ध्य-आरती की शङ्ख-घण्टा-ध्वनि सुन पड़ने लगी थी। संसार मुखरित हो रहा था, किन्तु वह मेरे हृदय की निस्तब्धता नहीं भङ्ग कर सका। धीरे-धीरे अन्धकार सघन हो आया और मैं उसी सघन अन्धकार में दृष्टि गड़ाये चुपचाप नदी के उस पार देखता रहा। उस समय हृदय में कितना विषाद, कितना सूनापन घनीभूत हो उठा था!!

२

आधी रात को जब सहसा नींद खुली तो देखा, प्रकृति ने रौद्र रूप धारण किया है। मूसलधार वर्षा हो रही थी, संसार ने घने-काले रङ्ग की

चादर ओढ़ रखी थी, बिजली रह-रहकर चमक उठती थी, बादल गरज उठते थे, अनवरत धारा-पात से उत्थित शब्द, मन में एक आकुल आकांक्षा जाग्रत कर रहा था।

यह दुर्दिन का दिन मुझे बड़ा अच्छा लगा। ऐसे दुर्दिन मुझे अच्छे लगते ही हैं—न जाने क्यों! जब झमाझम पानी बरसता है, बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं, मेरे मन-प्राण पुलकित हो उठते हैं, रोम-रोम खिल उठता है—न जाने किस आह्लाद से, किस अज्ञात सिहरन से! मैं एक कुर्सी खींच कर छज्जे पर बैठ गया—पानी बरसता रहा, बिजली चमकती रही, बादल कड़कते रहे, और मैं न जाने कहाँ खो गया!

मुझे होश आया तब, एक बार भीषण गड़-गड़ाहट के साथ समस्त दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं, बिजली की चकाचौंध से आँखें तिलमिला उठीं। मैं ने जमुहाई लेकर आँखों और बालों पर हाथ फेरा। बदन को मरोड़कर उँगलियाँ चटकायीं। मन में बड़ा अवसाद भर रहा था। मैंने अपनी

अन्यमनस्क आँखें इधर-उधर घुमायीं। सहसा मेरी दृष्टि पासवाले मकान की खिड़की पर पड़ी। इसे मैं ने सन्ध्या को भी देखा था—तब बन्द थी। इस समय खिड़की खुली हुई थी, कमरे में क्षीण आलोक फैला हुआ था और दुग्ध-फेन-निभ एक शय्या बिछी हुई थी, लेकिन उस पर सोनेवाला कोई वहाँ दीख न पड़ता था। कक्ष निर्जन और प्रशान्त था। मेरे मन में बड़ा कौतूहल हुआ और उस कौतूहल से प्रेरित होकर मैं देर तक टकटकी लगाये उस खिड़की की ओर देखता रहा।

मुझे बहुत देर प्रतीक्षा न करनी पड़ी—कमरे की लम्बाई की सीध में, एक ओर से आकर, एक तरुणी, धीर पद-विक्षेप, से खिड़की के सामने होती हुई दूसरी ओर निकल गयी। तरुणी दुर्बल थी, कमरे के क्षीण आलोक में उसका सुन्दर किन्तु पीताभ मुख-मण्डल और भी पीला हो रहा था। उसने किसी हल्के रङ्ग की जैकेट पहन रखी थी, जिसका रङ्ग दीख न पड़ता था, उस पर एक गुलाबी रङ्ग का दुपट्टा अस्त-व्यस्त पड़ा हुआ था।

खुले हुए बाल पीठ पर बिखर रहे थे। यद्यपि वर्षा के कारण ठण्ढ काफी पड़ रही थी, फिर भी वह दहिने हाथ से एक जापानी पङ्खा धीरे-धीरे झल रही थी।

वह शीघ्र ही फिर लौटी। मैं ने देखा, वह बेचैनी से कमरे में टहल रही है। इतनी ठण्ढक होने पर भी, इसके हृदय में कौन ऐसी आग जल रही है, जिससे इसके मन-प्राण को शान्ति नहीं है, यह मैं समझ नहीं सका। उसे मैं देर तक देखता रहा—विस्मय से, कौतूहल से और करुणा से।

वह रुग्ण मालूम पड़ती थी—रह-रहकर लम्बी साँसें लेती और सिहर उठती थी, जैसे कोई विर-हिणी हो। समझ में न आया कि यह अद्भुत बालिका कौन है! बादलों की तरह मन के आस-मान पर अनेक प्रकार के विचार उठे और लीन हो गये। मैं सोचता ही रह गया।

सहसा नीचे से किसी के गाने की आवाज सुन पड़ी—उमड़ती हुई, गूँजती हुई, झूमती हुई, तड़पती हुई, दर्द-भरी आवाज। सच पूछिए तो

अपनी जिन्दगी में मैं ने कभी ऐसी आवाज नहीं सुनी थी। ऐसा लगता था, जैसे गानेवाले का कलेजा उसके गीत के साथ उमड़ा चला आ-रहा है। मेरा जी न-जाने कैसा होने लगा, आँखें सजल हो उठीं, भाव-मुग्ध होकर मैं चुपचाप उसका गाना सुनता रहा।

अब बारिश रुक गयी थी। बिजली अब भी कभी-कभी चमक जाती थी, पर चारों ओर एक अवसाद और अवसन्नता फैल रही थी। ऐसा जान पड़ता था, जैसे प्रकृति इस ताण्डव नृत्य के बाद थकावट से अँगड़ाइयाँ ले रही हो। रात्रि शिथिल होती हुई जान पड़ी। गीत का क्रम अब भी चल रहा था।

सहसा मेरी आँखें खिड़की की ओर फिरीं—देखा, टहलना छोड़ कर वह तरुणी अब खिड़की पर आ गयी थी। दोनों कुहनियाँ खिड़की पर जमाकर, कुछ झुक कर ओर हथेलियों पर मुँह रख कर वह खड़ी थी। उसकी आँखों से अजस्र वारि-धारा प्रवाहित हो रही थी। बिखरे हुए बाल मुँह

पर छिटक आये थे और उसके उस विषादमय मुख मण्डल का सौन्दर्य दुगुना कर रहे थे।

उस रात को फिर मैं, सो नहीं सका, लेकिन छज्जे पर बैठते भी न बना। थोड़ी देर में फिर पानी पड़ने लगा। मैं कमरे में चला आया। करवटें बदलते और तरह तरह की बातें सोचते हुए रात के पिछले पहर, न जाने कब, थोड़ी देर के लिए मेरी आँखें लग गयीं।

३

सबेरे उठने पर रात की बातें सपने-सी मालूम हुईं, लेकिन नीचे से सङ्गीत की लहराती हुई आवाज सुनते ही मेरी चेतना जाग्रत हो उठी। आँखें मलकर मैं झट छज्जे पर जा पहुँचा। वहाँ से सीधे खिड़की पर नजर पड़ी—अरे! वह रमणी अब भी, उसी एक भाव से खिड़की पर खड़ी, आँसू बहा रही थी। वह आत्म-विभोर थी, आँखें मुँदी हुईं, शरीर निश्चेष्ट-निस्पन्द!!

मैं टकटकी लगाये, अवाक् होकर, उसी ओर देखता रहा। रात क्या इस दुःखिनी ने इसी तरह

खड़े-खड़े और रोते हुए बिता दी है? उफ! शरीर यह अत्याचार कब तक बर्दाश्त कर सकेगा?

मैं सोच ही रहा था कि गाना बन्द हुआ। उसने आँखें ऊपर उठायीं। चार आँखें होते ही झट खिड़की बन्द कर के वह अन्दर चली गयी। मैं घबरा-सा गया। न-जाने उस दुःखिनी बाला ने मेरे लिए क्या खयाल किया हो! मैं तो सहज भाव से, समव्यथी होकर ही, उसकी ओर देख रहा था। क्षण भर इसी विचार में पड़ा रहा। फिर उस गायक की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। अब मैं ने नीचे झाँक कर देखा—एक कच्ची, टूटी हुई झोपड़ी थी। मिट्टी की दीवार जगह-जगह से गिर पड़ी थी, फूस का छप्पर अस्तव्यस्त हो रहा था। आँगन में एक नीम का पेड़ था, जो उस घर की दरिद्रता का इजहार कर रहा था, मैंने एक बार इस टूटी हुई झोपड़ी की ओर देखा और दूसरी बार खिड़कीवाले महल की ओर—दोनों में कितनी असमानता थी! किन्तु इतनी असमानता लेकर दोनों ही एक-दूसरे का उपहास करते हुए आमने-सामने खड़े थे।

मेरे जी में एकाएक यह बात उठी कि इन दोनों व्यक्तियों में कहीं प्रेम तो नहीं है! यह अनुमान बहुत ठीक जँचा; लेकिन, कैसे अचरज की बात है!—प्रेम इतनी असमानता और कठिनाइयाँ लेकर क्यों उत्पन्न होता है! बार-बार मेरा जी उस गानेवाले से बातचीत करने के लिए मचल-मचल उठने लगा।

तब, धीरे-धीरे नीचे उतरकर मैं दरवाजे पर जा-खड़ा हुआ। वहाँ गौर से मैंने इधर-उधर देखा—बायीं ओर कोने पर वह खिड़कीवाला महल था और दाहिनी ओर कोने पर यह झोपड़ी। महल की दीवार मेरे मकान की दीवार से मिली हुई थी और झोपड़ी को, सामने से आयी हुई गली हमारे मकान से अलग करती और त्रिभुज बनाती हुई निकल गयी थी। अब मैंने देखा कि आमने-सामने होने पर भी इन दोनों मकानों के रहनेवाले एक-दूसरे को देख सकें, इसका कोई उपाय नहीं है। हमारे मकान से लगी हुई जो दीवार उस मकान को लम्बा करती थी, उसकी

चौड़ाई में छत फैली हुई थी, उसके बाद वह कमरा था, जिसकी खिड़की छत पर खुलती थी। कभी गली की ओर भी खिड़की रही होगी, पर अब वह बराबर कर दी गयी है, कुछ निशान ही अब इस बात की साक्षी दे रहे हैं। खिड़की छत पर खुलती थी, इसी से मेरे सामने पड़ती थी। उसे बन्द करने का न कभी प्रयोजन पड़ा होगा और न उस ओर किसी ने ध्यान ही दिया होगा।

अपने मन में इतनी बातें चित्रित करने के बाद मैं उस झोपड़ी की ओर देखने लगा। दरवाजे पर टाट का एक फटा पर्दा पड़ा हुआ था, जिससे अन्दर नहीं दिखायी देता था। मैं थोड़ी देर वहीं खड़ा-खड़ा सोचने लगा कि कैसे उसे बुलाऊँ और बात-चीत शुरू करूँ? मैं इस असमञ्जस में पड़ा ही था कि गाढ़े की घुटनों तक लम्बी लुङ्गी लपेटे, नङ्गे बदन वह बाहर निकला। उसे देखते ही, न-जाने क्यों, मन में हुआ कि जिसे मैं ढूँढ़ रहा हूँ, वह यही है। वह बड़ा सुन्दर, सु-दर्शन और आकर्षक नवयुवक था। हृष्ट-पुष्ट शरीर, भरी और

उमड़ी हुई छाती, बलिष्ठ भुजाएँ, चौड़ा ललाट, घुँघराले-बाल उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसकी आँखें बड़ी मादक और करुणा-भरी थीं—जैसे विधाता ने अपने सौन्दर्य और उन्माद के श्रेष्ठतम उपकरणों से उसका निर्माण किया हो! इतने गन्दे मकान में इतना सुन्दर नवयुवक!—ऐसा लगा, जैसे कीचड़ में कमल खिला हो!!

मैं क्षण भर मन्त्र-मुग्ध-सा उसकी ओर देखता रहा, फिर साहस करके मैंने कहा—"आपको तकलीफ न हो तो जरा इधर आइयेगा।"

"अजी तकलीफ काहे की? मैं तो आप-लोगों का फर्माबर्दार हूँ।" उसने होठों पर स्मित लाते हुए कहा और गली पार करके मेरे पास चला आया। सीढ़ियों के नीचे ही खड़े-खड़े उसने कहा—"फर्माइये।"

मैं ने कहा—"मैं आप से कुछ बातें करना चाहता था। आपको कोई दिक्कत न हो तो आइये, चलकर जरा देर ऊपर बैठें!"

"ऊपर?........" उसकी जबान लड़खड़ा गयी, बदन काँप गया, बड़ी मुश्किल से आत्म-

संवरण करते हुए उसने कहा — "मैं ऊपर जाकर क्या करूँगा ? आप फर्माइये ?"

"कोई खास बात नहीं। आज मैं ने आपका गाना सुना तो मुझे बड़ा अच्छा लगा। जी में आया, आप से कुछ बातचीत की जाय। वाक़ई आपने बड़ा अच्छा गला पाया है।"

"सब आप लोगों की मेहरबानी है, वर्ना मैं गाना-वाना क्या जानूँ। रात को काम करने के वक्त कुछ गुन-गुनाते रहने की मेरी आदत-सी पड़ गयी है।"

"क्या करते हैं आप ?"

"दफ्तरी का काम—जिल्दसाजी वगैरह।"

"आपका नाम ?"

"मुझे अब्दुल हबीब कहते हैं।"

"आप अकेले ही हैं ?"

उसने अपनी बड़ी-बड़ी भावपूर्ण आँखों से एक बार मेरी ओर देखा और कहा—"जी हाँ!"

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे। वह सिर झुकाये खड़ा रहा। मैं ने फिर कहा—"आपकी

गजलें मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं। बहुत-सी याद होंगी आपको ?"

"जी नहीं; अक्सर नयी गजलें कहता हूँ—गजलें क्या, वह यों ही जी बहलाने को कुछ कह लेता हूँ।"

नहीं भई, सचमुच ही आप बहुत अच्छी गजलें कहते हैं—तब तो आप बड़े शायर हैं।"

"आप तो मुझे शर्मिन्दा कर रहे हैं। मैं आप लोगों का खादिम हूँ। इसे भी शायरी कहते हैं !"

"आपने तालीम कहाँ तक पायी है ?"

"बाबूजी, तालीम पायी होती तो········" आगे वह नहीं बोल सका। उसकी आँखें भर आयीं, गला रुँध गया। बड़ी मुश्किल से अपने उमड़ते हुए भावों को रोक कर वह झटपट अपने घर में घुस गया। मेरे आश्चर्य और विस्मय का क्या कहना था !

अब इस बात में तो कोई शक ही नहीं रहा कि इन दोनों में आपस में प्रेम है, लेकिन यह

अघटन-घटना हो कैसे गयी, इसका रहस्य कैसे मालूम हो? अचरज से भरा मेरा मन विचारों के ज्वार-भाटा में डूबने उतराने लगा—बे-पढ़ा-लिखा आदमी, प्रेम ने उसे कवि बना दिया है। उफ्! मनुष्य का जीवन कितना एकाकी, कितना निःसङ्ग अथच कितना पियासित होता है!! किसी के जीवन की डोरी में अपने हृदय की माला गूँथ देने के लिए मानव का मन इतना उतावला, इतना आकुल क्यों रहता है?

४

इन दोनों के प्रति मेरी उत्सुकता और कौतूहल ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, वे त्यों-ही-त्यों मुझ से खिंचने लगे। हबीब उस दिन के बाद फिर कई दिनों तक दीख न पड़ा—शायद, जान-बूझकर मुझ से बचता रहा। इधर वह तरुणी भी, मेरे सामने पड़ते ही, झट खिड़की बन्द कर लेती थी और विरक्ति के भाव उसके मुँह पर प्रतिफलित हो उठते थे। मैं उसे विरक्त अथवा दुःखी तो करना नहीं चाहता था, पर उसे देखना जरूर चाहता

था। न जाने क्यों उसे देखने की इच्छा होती थी, पर इतना मैं जानता हूँ कि उस इच्छा में असत् कुछ नहीं होता था। इन दो दुःखी आत्माओं का कुछ भला कर सकूँ, चाहे इस में कुछ कष्ट और लांछना भी सहनी पड़े, तो मेरे जी को थोड़ा सन्तोष हो। इसी से अब उसकी दृष्टि बचाकर मैं उसे देखता—कभी आधीरात के अन्धकार में, कभी दोपहर के सन्नाटे में और कभी गोधूलि की निर्जनता में। बरसात का जमाना तो था ही, कभी रिमझिम पानी बरसता, कभी बादल गरजते, कभी बिजली चमकती और कभी खिलकर धूप भी निकल आती थी—दुनियाँ में सब होता था, लेकिन उस दुःखिनी बाला की तो एक ही दिनचर्या थी, एक ही वेश-विन्यास था और एक ही कार्य-कलाप था। वही जापानी-पंखी बिखरे-बाल, जैकेट और चादर। कभी वह बेचैनी से पंखा झलती हुई टहला करती, कभी खिड़की पर खड़ी होकर सूने आसमान की ओर चुपचाप देखा करती और कभी बिछौने पर लेट कर एक किताब

देखा करती थी—शक्ल तो उसकी किताब की ही थी, पर वह किताब थी नहीं, क्यों कि उसके पन्ने उलटे जाते हों, ऐसा मैं ने कभी नहीं देखा। वह स्थिर-दृष्टि से चुपचाप उसकी ओर देखा करती थी। मैं सोचता—वह क्या अब्दुल हबीब की तस्वीर है?

जो हो, अब मुझ से इन का यह दुःख देखा न गया। मैं प्रायः यह सोचा करता कि अब्दुल हबीब से क्या किसी तरह एक बार इस लड़की की मुलाकात नहीं करा दी जा सकती? सम्भव है, अनेक पाठक मेरी इस चिन्तना को अनुचित और नैतिक दुर्बलता का चिन्ह बतावें, पर मैं समाज के बन्धनों और भेद-भाव के झगड़ों से मनुष्य के जीवन को बड़ी चीज समझता हूँ। इसी से दूसरे दिन मैं ने हबीब को पुकार कर कहा-"भाई! आज मैं तुम से एक बात कहना चाहता हूँ! कहो, तुम उसे मानोगे?"

उसने कहा—"आपका हुक्म टाल सकूँ, इतनी जुरअत मुझ में नहीं है! फर्माइये?"

मैं ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि आज तुम मेरे साथ खाना खाओ। तुम्हें मेरी यह बात माननी ही होगी।"

वह मेरी ओर ऐसे देखने लगा, जैसे उसे मेरी बात पर विश्वास ही न हो रहा हो। थोड़ी देर बाद उसने आँखों में आँसू भरकर कहा—"बाबूजी, मैं इस लायक नहीं हूँ............"

मैं ने कहा—"देखो, ऐसी बातें कहोगे तो मुझे तकलीफ होगी। आज यह बात तो तुम्हें माननी ही हागी।"

थोड़ी देर के बाद वह राजी हो गया, लेकिन ऊपर तो वह किसी तरह आना ही न चाहता था। बड़ी मुश्किल से मैं उसे ऊपर खींच ले गया। वहाँ, ठीक खिड़की के सामने, बरामदे में मैं ने खाने का इन्तजाम किया। जब वहाँ ले जाकर मैं ने उसे खिड़की के सामने बैठाना चाहा तो वह रो पड़ा, किसी तरह उधर न बैठा। खिड़की की ओर पीठ कर के वह कहने लगा—"बाबूजी, आप मुझ से इतनी मुहब्बत क्यों करते हैं? मैं तो इतना

प्यार बर्दाश्त नहीं कर सकूँगा—मुझे आदत नहीं है। आज तक मैं ने दुनियाँ की नफरत और ठोकरें ही पायी हैं!"

मैं ने कुछ उत्तर नहीं दिया। नौकर खाना मेज पर चुन गया। मैं ने खाने में मनोनिवेश करते हुए कहा—"एक हिन्दू के घर का यह सादा खाना शायद तुम्हें पसन्द न आवे!"

उसने कहा—"बाबूजी! यह मेरी खुश-किस्मत है कि मैं ने आपके साथ खाना खाने का नियाज हासिल किया, वर्ना........"

मैं ने खिड़की की ओर देखा तो वह तरुणी रोज की तरह टहल रही थी। मैं ने झट उसकी ओर से आँखें हटा लीं। थोड़ी देर तक भोजन का क्रम निःशब्द चलता रहा।

"क्यों भई, उस मकान में कौन लोग रहते हैं, तुम्हें मालूम है?" मैं ने अचानक अन-जान की तरह उसी खिड़की की ओर इशारा कर के पूछा।

धोखे से हबीब की दृष्टि उधर चली गयी। उस समय रमणी खिड़की पर खड़ी थी। दोनों

की चार आँखें हुईं—लेकिन आँखों ने जैसे विश्वास न माना कि वे एक दूसरे को देख रही हैं। क्षणभर स्तम्भित-से, चकित-से, शून्य-से हुए, वे एक दूसरे की ओर देखते रहे, फिर हबीब मेरी ओर दृष्टि फिराकर उच्छ्वसित हृदय से रो पड़ा "बाबूजी! यह आपने क्या किया?"

मैं ने किसी तरह उसे सँभाला—"हबीब, भाई, मैं माफी चाहता हूँ। मैं ने जान-बूझकर ही यह काम किया है, लेकिन गुनाह नहीं किया। तुम क्या मुझे माफ न करोगे?"

"नहीं, आपने अच्छा ही किया,........ लेकिन,............उफ्!............अब मैं जाता हूँ! माफ कीजिएगा।" वह पागल की तरह उठा और तेजी से जीने की ओर बढ़ा।

मैं ने उसका हाथ पकड़ लिया—"देखो, मुझे तुम से कुछ बात करनी थी। उतावले न बनो, जाओ मत।"

तब, वह फिर चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया—थका हुआ, हारा हुआ, निस्तेज-हुआ-सा।

अब मैं ने उस रमणी की ओर दृष्टिपात किया—इस समय लज्जा-संकोच भूलकर, अब तक, आँखों से, वह हबीब की ओर देख रही थी। उसके हृदय की पिपासा आँखों में प्रतिफलित हो उठी थी। ओः! वह कैसा उन्माद था, कैसी तृष्णा थी!!

मैं ने हबीब से कहा—"हबीब! चाहे हमारी-तुम्हारी जान-पहचान कितने ही कम दिनों की क्यों न हो, मेरे दिल में तुम-दोनों की मुहब्बत बहुत हो गयी है। तुम्हारा दुःख, तुम्हारी बेचैनी और बेसब्री मुझ से देखी नहीं गयी, इसीलिए आज मैं ने यह उपाय किया था; लेकिन इससे शायद तुम्हारे दिल को सदमा पहुँचा है! मुझे इस बात का अफसोस है, लेकिन मैं फिर तुम से कहता हूँ, तुम पागल न बनो। इतनी लम्बी-चौड़ी जिन्दगी तुम्हें काटनी है, इस तरह वह कैसे पार होगी?"

"जिन्दगी तो एक लहमे में पार हो जा सकती है बाबूजी, लेकिन जिस जिन्दगी पर हमारा

कोई अख्तियार ही न हो, उसकी फिक्र हम क्यों करें ?" उसने सिर झुकाकर धीरे-धीरे कहा।

मैं ने पूछा—"लेकिन तुम लोगों ने सोचा क्या है ?"

"कुछ नहीं। सोचने का वक्त ही कहाँ मिला ?"

"फिर ? यह सब हो कैसे गया ?"

"न जाने कैसे! मैं खुद ही नहीं जानता।" वह चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद आप ही आप कहने लगा—"बाबूजी, जिस बात को भूले रहने की कोशिश करके भी मैं भूल न पाता था और झूठमूठ ही भूलने का दिलासा अपने जी को दिया करता था, आज सचमुच ही आपने उसकी याद दिला दी है, मेरे सोये हुए दर्द को आपने जगा दिया है। बाबूजी, मैं तो ख्वाब में भी इस पाक रूह का खयाल करने की हिमाकत नहीं करता,— कहाँ वह, कहाँ मैं! —लेकिन, अल्लाह की मर्जी देखिए कि वही मेरे लिए अपने तईं कुर्बान होने जा रही हैं। बाबूजी, अब अगर

उनकी तसल्ली के लिए मैं अपनी जिन्दगी को न्योछावर न कर दूँ तो मुझे चैन कैसे मिले ?"

इतना एक साँस में कहकर, उदास होकर, वह चुपचाप आसमान की ओर देखने लगा—आसमान अब काले-काले बादलों से भरा आ रहा था। उसका मुख-मण्डल भी ठीक वैसा ही भरा हुआ था। मैं ने कहा—"भाई, तुम्हारे दिल-दुखाने की गर्ज से नहीं, बल्कि सचमुच ही तुम से मुझे मुहब्बत हो गयी है, इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि तुम दोनों में कैसे जान-पहचान हुई, कैसे मुहब्बत हुई और आगे फिर उसका क्या अंजाम हुआ ? कैसे तुम लोग इतने अलग हो गये और इस तरह अपनी जान खो रहे हो ?"

हबीब ने कहा—"बाबूजी, मुझ दुखिया के पास और क्या था, दिल के दर्द को मैं दिल में ही छिपाये रखना चाहता था, लेकिन आप उसे छिपा रहने देना नहीं चाहते। न सही, आपकी मर्जी के खिलाफ मैं कुछ नहीं कर सकूँगा।"

वह क्षण भर के लिए चुप हो गया। मैं ने खिड़की की ओर देखा—वह अब भी, उसी

प्रकार खिड़की पर झुकी एकटक हबीब की ओर देख रही थी। उसकी आँखों से जल की धाराएँ बह-बह कर गालों पर बिखर जाती थीं। मैं उसकी ओर देख नहीं सका। हबीब कहने लगा—"उनका नाम रजिया है। उनके वालिद बड़े नेक, रहमदिल और ऊँचे खानदान के थे। अल्लाह ने उन्हें सब तरह से खुशहाल बनाया था। खयालात भी उनके निहायत पाक और नये जमाने के थे। पर वो बहुत दिन जिये नहीं। रजिया तब छोटी थी। उनके वालिद की मंशा थी कि उन्हें वे खूब पढ़ावें-लिखावेंगे और बड़ी होने पर अच्छी जगह शादी करेंगे। लेकिन उनके जी की जी में ही रह गयी। वालिद के उठ जाने पर उनके मामूँ उन्हें अपने यहाँ ले आये। तब से ये यहीं हैं।

"वालिद जैसे थे, मामूँ उसके ठीक उलटे हैं। वे जैसे नेक, रहमदिल और ऊँचे खयालात के थे, इनके मामूँ वैसे ही खूँखार और बेरहम हैं। रजिया को अपने यहाँ ले आये और उनके वालिद

की सारी दौलत चुपचाप अपने कब्जे में करली। रजिया का निकाह अपने लड़के हमीद से कर देंगे, यह भी उन्होंने-मन ही-मन सोचा।

"मैं तो जब से पैदा हुआ, इसी झोपड़ी को जानता हूँ। माँ-बाप कब मर गये, मुझे खयाल भी नहीं। जब होश सँभला, देखा कि एक बड़ी बहन के सिवा और अपना कोई नहीं है। शादी उसकी पहले ही हो चुकी थी, मैं बड़ा हुआ तो वह अपनी ससुराल चली गयी। मुझे बहुत चाहती थी, अपने साथ ही ले जाना चाहती थी, पर मुझे तो इस नीम की छाँह छोड़कर कहीं न जाते बना!

"मेरे वालिद चाहे जो कुछ काम करते रहे हों, मुझे तो दफ्तरी का काम ही ज्यादा रुचा। मुझे पढ़ाता-लिखाता कौन? जी की भूख शायद जिल्द बाँधने के लिए आयी हुई किताबों को देख-कर ही मिट जाय, यह सोचकर मैं ने यही काम सीखा और शुरू किया।

रजिया के कमरे के पिछवाड़े, वहाँ, दो खिड़कियाँ थीं। अपने रहने के लिए उन्होंने वही

कमरा पसन्द किया था। स्कूल के नवें दर्जे में शायद पढ़ती थीं। कभी-कभी वे खिड़की पर खड़ी होती तो मैं उन्हें एक नजर देखकर सर झुका लिया करता था। उनकी तरफ देख सकूँ, ऐसी किस्मत मैंने कहाँ पायी थी बाबूजी ?

"एक दिन एक लौंडी एक किताब छिपाये आयी और मुझे देकर बोली—"बीबी ने भेजा है। अच्छी मजबूत जिल्द बना देना, और क्या लोगे यह भी बता देना।" किताब लेकर मैंने रखली। कहा—"बन जायगी तो लेजाना।" वह चली गयी।

"जिल्द बन कर गयी तो चार आने पैसे उनने खुद ही भेज दिये। एक बार जी में आया लौटा दूँ, लूँ नहीं। लेकिन फिर खयाल आया कि उन पाक हाथों से छुए हुए पैसों को रख लेना ही ठीक है। रख लिया। वे आज भी मेरे पास रखे हैं।

"चार-पाँच दिन बाद वो खिड़की पर दिखीं। खिड़की खुलते ही मेरी नजर ऊपर को उठ गयी—उनके हाथ में वही किताब थी। दिखाकर कहने

लगीं—"ऐसी ही जिल्द बनाते हो? तीन दिन में उखड़ गयी।" मैं ने कहा—"वापस भेज दीजिए, और अच्छी बना दूँगा।" बोलीं—"लो!" और हाथ बढ़ाया। मैं ने भी हाथ फैला दिया। वह आकर मेरी गोद में गिरी, एक तागे से बँधी हुई थी। उधर उन्होंने धड़-धड़ खिड़की बन्द करली।

"तागा तोड़ कर देखा, जिल्द न कहीं टूटी थी! हैरत में रह गया। इधर-उधर पलटा तो अन्दर से एक लिफाफा गिर पड़ा। बन्द था और उस पर उर्दू में कुछ लिखा हुआ था। मैं ने सोचा भूल से चला आया होगा।

"जिल्द टूटी न थी, फिर भी उसे तोड़कर, दुबारा, चमड़े की पक्की जिल्द तैयार की। दो दिन बाद वही लौंडी आयी। मैंने उसी तागे से बाँध-कर, लिफाफे-सहित किताब वापस कर दी।

"शाम को फिर खिड़की खुली। "तुम्हारी एक चिट्ठी किताब के साथ चली आयी है।" उन्होंने कहा। मैं हैरान होकर उनकी ओर देखने

लगा। फिर बोला—"वह आप ही की थी, गलती से किताब के साथ आ गयी थी।"

"नहीं जी, उस पर तुम्हारा नाम लिखा है, मेरी कैसे हो सकती है?"

"मैं कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। बोला—"तो फिर उसे वापस दे दीजिए।" उन्होंने चिट्ठी फेंक दी। मैं ने फिर पूछा—"जिल्द पसन्द है?"

वो मुस्करायीं—"पहले ही वाली अच्छी थी। दुबारा मत बनाया करो, फिजूल!" उन्होंने कहा और खिड़की बन्द करली।

"मैं यह पहेली कुछ समझा नहीं, लेकिन चिट्ठी का राज जानने के लिए जी उतावला हो उठा। मैं खुद तो पढ़ना जानता न था, किससे पढ़वाऊँ, यही सोचने लगा। पास-पड़ोस के किसी आदमी को मैं वह खत दिखाना न चाहता था, न जाने क्या लिखा हो! इसीलिए मैं दूसरे मुहल्ले में जाकर उसे पढ़वा लाया। उसमें सिर्फ इतना ही लिखा था—"तुम्हारा गाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है। तुम और ज्यादा क्यों नहीं गाया

करते ?" न-जाने इन दो लकीरों में क्या जादू भरा था कि सुनते ही बदन में एक बिजली-सी खेल गयी। मन काँप उठा, मुँह लाल हो गया। मैं मन-ही-मन शर्मा गया। खत लेकर भाग आया और दूसरे दिन दिन भर दरवाजा बन्द करके पड़ा रहा।

"उसके बाद क्या हुआ, मैं नहीं जानता। जैसे बाढ़ में बहता हुआ आदमी अपनी सुध-बुध खो देता है और उसके बाद किसी बात की खबर उसे नहीं रहती, उसी तरह मैं भी अपने आपको भूलकर न जाने कहाँ बह गया, क्या हो गया! याद है सिर्फ यह कि अँधेरी और काली रातों में जब सारी दुनियाँ गहरी नींद सो जाया करती थी, हम दोनों जागकर रात बिता दिया करते थे। मैं गाता और वो खिड़की पर खड़ी होकर सुना करतीं। कभी हम लोग चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखा करते। इस तरह हम लोगों ने न-जाने-कितने दिन बिता दिये। आखिर एक दिन हमारे सर पर दुःख के बादल गरज उठे, जुदाई की बिजली गिर पड़ी। हम दोनों बिना पानी की

मछली की तरह तड़प कर जान दे देने को तैयार हो गये।

"बात यह हुई कि रजिया के मामूँ के कानों तक ये बातें किसी तरह से पहुँच गयीं। उन्होंने रजिया पर बहुत जुल्म किये और दोनों खिड़कियाँ बन्द कर दीं। रजिया का स्कूल जाना भी छूट गया। अब वह एक तरह से कैद थी।

"बाबूजी, दुनियाँ जिस्म को अलग कर सकती है, लेकिन जिन में मुहब्बत है, उन दो दिलों को वह कैसे अलग कर सकती है? रजिया कैद तो हो गयी, लेकिन हम दोनों की मुहब्बत मे कुछ फर्क न पड़ा। वह लौंडी जो मुझे किताब दे गयी थी, रजिया की हालत देखकर और उस पर तरस-खाकर कभी-कभी मेरे पास आती और रजिया के सन्देशे कह जाती। मुझे भी जो कुछ कहना होता, मैं उससे कह दिया करता था। लेकिन, यह वक्त भी ज्यादा दिन न ठहरा। रजिया के मामूँ को इसका पता लग गया और लौंडी निकाल दी गयी।

"अब हम अपनी जिन्दगी से बिलकुल मायूस और नाउम्मीद हो गये। कई बार जी में आया, जहर खाकर सो रहूँ, लेकिन फिर सोचता, रजिया का क्या होगा? मुझे तो उसके लिए भी जीना ही होगा। मैं ने यही तय किया। अब उसी के लिए जीता हूँ, सोता हूँ, उठता हूँ और गाता हूँ।

"बाबूजी, अब सब कुछ भूल गया हूँ, अपने आप को भी। अब तो एक रजिया ही मेरे जिस्म के जर्रे-जर्रे में रम रही है। ऐसा मालूम होता है, जैसे हमारे दिलों के अन्दर एक डोरी लगी है, जिससे एक-दूसरे के एक-एक लहमे का हाल जान जाते हैं। रात होती है और अँधेरा फैल जाता है, तब ऐसा मालूम होता है, जैसे रजिया अब टहल रही है और मेरा गाना सुनने की इन्तजार में खड़ी है। उस वक्त मैं गाता हूँ। कभी मैं रजिया की सिसक सुन पाता हूँ और कभी उसकी सर्द आहें। जी में एक कसक-सी उठने लगती है, तब गाता हूँ। गाने से उनके

जी को तस्कीन होता है, यही मेरा सुख है। रजिया ने कहलाया था—अब तुम्हारा गाना सुन-कर ही जिन्दा रहूँगी, गाना बन्द न करना। मैं उनकी बात टालता नहीं, अब गाने का एक नशा-सा ही बन गया है।

"आज उनको देखकर फिर जी उमड़ा आ रहा है। हाय! वो कैसी हो गयी हैं और कैसा भेस बना रखा है उनने!!"

हबीब सिसकियाँ लेने लगा और बदहोश-सा हो गया। मेरा मन उस वक्त इस प्रेमी की कहानी को सुनकर उबल रहा था। अब शाम होने आयी थी और दुनियाँ में हमारे मन की उदासी मानों अँधेरा बनकर फैलती जा रही थी।

(५)

इसके बाद की कहानी बहुत लम्बी है, पर वह जितनी लम्बी है, मैं उसे उतने ही संक्षेप में कहूँगा। हबीब से अब मेरी खासी दोस्ती हो गयी थी, रजिया के मन में भी मेरे लिए मित्र-भाव उत्पन्न हो गया था। अब हबीब अक्सर मेरे

ही घर रहता और दोनों एक-दूसरे को देखा करते। दोनों की हालत कुछ-कुछ सुधरने लगी थी और वे खुश भी रहने लगे थे लेकिन बीच-बीच में न जाने क्या पागलपन उन पर सवार होता कि वे दोनों ही जल से निकली हुई मछली की तरह तड़पने लगते। मैं अक्सर; उन दोनों को किस तरह राहत मिले, किस तरह वे आराम और चैन से जिन्दगी बसर कर सकें, यही सोचा करता था। आखिर मैं ने एक खतरे का काम करना तय किया। दो जिन्दगियों को बर्बाद न होने देने के लिए थोड़ा खतरा उठा सकूँ, इतना साहस और बल मुझ में था। मैं ने सोचा कि रजिया को किसी तरह हबीब के साथ करके किसी तरह दूसरी जगह भेज देना चाहिए। दुनियाँ चाहे इसे कितना ही बुरा क्यों न कहे, पर दो हरे-भरे बागों को उजाड़ने की बनिस्बत उन्हें साथ-साथ बह जाने देना मुझे ज्यादा पसन्द है। अपने जी की यह बात मैं ने हबीब से भी कह दी। वह तो खुशी से दीवाना हो गया। लेकिन यह बात रजिया तक कैसे पहुँचायी जाय?

मैं इन्हीं चिन्ताओं में था और कुछ उपाय सोच रहा था। इसी बीच सहसा एक घटना हो गयी। एक दिन रजिया के कमरे की खिड़की बन्द हो गयी। फिर वह दो दिन तक न खुली। हबीब बेचैन हो गया। वह खुद तो इस बारे में कुछ पूछ-ताछ कर न सकता था, मैं ने पता लगाया तो मालूम हुआ, एक दिन सहसा ही रजिया के मामूँ सारे परिवार के साथ कहीं चले गये। कहाँ गये, कब लौटेंगे, इस बारे में कोई कुछ न बता सका। मेरा जी धक्-से हो गया। अभागे हबीब से मैं जाकर क्या कहूँगा?

लेकिन कहे बिना गति ही क्या थी? हबीब तो जैसे एकदम पागल हो गया। सर के बाल उसने नोच डाले, पागलों-सा कमरे में दौड़ने लगा, कभी सर टकरा लेता, कभी तड़पने और रोने लगता और कभी एकदम चुप होकर उसी खिड़की की ओर देखता। हबीब को सँभालकर रखना मेरे लिए बड़ा मुश्किल हो गया। ऐसा जान पड़ता था कि अगर एक क्षण के लिए भी इसे अलग छोड़ दूँ तो जान दे देगा।

फिर उसने चारपायी पकड़ ली। रोते रोते आँखें उसकी सूज गयीं और लाल हो गयीं। खाना-पीना एकदम छूट गया। बस, पड़े-पड़े "हाय रजिया! हाय रजिया!" कह-कर ठण्ढी साँसें भरा करता था।

हबीब की किस्मत में न जाने कितना दुःख लिखा था कि थोड़े ही दिनों बाद मेरी बदली हो गयी। हबीब का चित्त अब कुछ सँभलने लगा था। बीच ही में यह आघात लगा। हबीब को छोड़कर जाने को मेरा भी जी न होता था, लेकिन नौकरी के आगे सिर झुकाना ही पड़ा। हबीब तो वह जगह छोड़कर हटने को राजी ही न था—वह मकान और उसकी स्मृतियाँ ही अब उसका सर्वस्व थीं।

चलते वक्त हबीब बहुत रोया और मेरा भी जी भर आया। मनुष्य के जीवन में प्रेम और विरह यही दो घटनाएँ प्रधान हैं और ये दोनों कभी अलग होकर नहीं रहते। न-जाने कितना प्रेम है इनमें!!

(६)

एक वर्ष बाद --

बरसात फिर आयी, सावन बीत चुका था, भादों भर रहा था। हबीब की स्मृति अब मेरे मन में धुँधली हो चली थी—एक कहानी बन गयी थी, जो कभी-कभी दिल में एक हल्की-सी चुभन उठा जाया करती थी। संसार में अतीत सदा ही कहानी बनकर परछाईं की तरह मनुष्य के साथ रह जाता है, किन्तु पिछड़ा हुआ, छूटा हुआ, दूर-दूर।

एक दिन संध्या को अन्यमनस्क भाव से टहलने जा रहा था। बस्ती पीछे छूट गयी, सामने मैदान था और जंगल। मैं अपने हाथ की छड़ी घुमाता बढ़ता ही जा रहा था। बगल में एक कब्रस्तान मिला। मैं ने ध्यान न दिया। सहसा वहाँ से किसी के गाने की आवाज सुन पड़ी—मैं चौंक उठा, ठिठक गया, यह तो हबीब की आवाज थी! क्या सचमुच ही?

मैं कब्रस्तान की ओर चला। नजदीक जाकर जो कुछ देखा, उससे मेरे जी में न जाने कैसे-कैसे भाव उठने लगे! एक जर्णि-शीर्ण, अस्थि-चर्मावशिष्ट व्यक्ति एक कब्र पर झुक कर बैठा हुआ तन्मय होकर गा रहा था। कब्र पर एक दीपक जल रहा था, कुछ फूल इधर-उधर बिखरे हुए थे। मैं ने पहचाना वह हबीब ही था, किन्तु कितना बदला हुआ! और यह कब्र? यह रजिया ....! आगे सोचने का साहस न हुआ। धीरे-धीरे आगे बढ़कर मैं हबीब के सामने खड़ा हो गया।

"हबीब, भाई!" मैं ने स्नेह-भरे, व्यथित-स्वर से पुकारा।

उसने मेरी ओर देखा—थोड़ी देर देखता ही रहा, जैसे पहचानने की कोशिश कर रहा हो। फिर, हो-हो करके हँस पड़ा। —"ओः! बाबूजी तुम आ ही गये? तुम्हारी बड़ी इंतजार थी।" उसने कहा और फिर गाने लगा।

मैं ने उसकी ओर चिन्तित नेत्रों से देखा। हाय! क्या बेचारा हबीब आखिर पागल हो कर ही रहा!

सहसा हबीब कहने लगा—"बाबूजी बड़ी मुश्किल से ढूँढ़ कर इसको पाया है। कहाँ नहीं ढूँढ़ा इसे? ओः! ········ लेकिन आखिर ढूँढ़-कर पा ही लिया। ········ आप देखते नहीं हैं? ········ यह रजिया है। सो रही है। कैसे सुख की नींद सो रही है! ········ और बाबूजी, तब भी एक दीवार हमारे बीच में थी, अब भी एक दीवार ही है, लेकिन देखिए, अब मैं इसके कितने नजदीक हूँ। ········ बाबूजी, जरा धीरे बोलिए, रजिया सो रही है न, नींद खुल जायगी इसकी। बहुत कमजोर हो गयी है अब, बर्दाश्त नहीं होगा। ········ और देखिये, मुझे भी नींद आ रही है—बहुत दिनों का जागा हुआ हूँ। मुझे जरा देर सो लेने दीजिए, लेकिन आप कहीं जाइएगा मत। थोड़ी देर यहीं खड़े रहिएगा। कहीं रजिया जाग गयी तो डरेगी। ······· और

आप को तो पहचानती ही है। आपको देखकर खुश होगी।"

रजिया की कब्र पर हबीब लोट गया। अत्यन्त उत्तेजना के कारण वह शिथिल हो गया था। मैं थोड़ी देर आँसू-भरी आँखों से उसकी ओर देखता रहा, फिर परीक्षा की, तो मालूम हुआ वह ऐसी गहरी नींद में सोया है कि फिर कभी न उठेगा। इस चिर-निद्रा से कौन कभी जागकर उठा है?
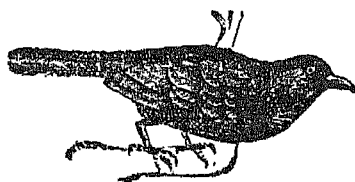
परीक्षा
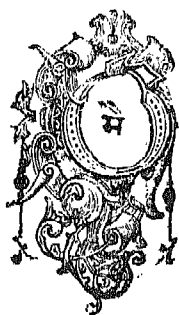
ट्रीकुलेशन का परीक्षा-फल निकला। नीलिमा अव्वल थी।

शाम को सन्तोष दफ्तर से वापस आया। नीलिमा का परीक्षा-फल उसे दफ्तर में ही मालूम हो गया था। आते ही उसने नीलिमा को गले से लगा लिया—"नीला! तुमने मेरा नाम रौशन कर दिया। मुझे इतनी उम्मीद न थी।"

नीला को खुद भी इतनी उम्मीद न थी। उसके कुम्हलाये हुए अधरों पर फीके हास्य की रेखा खेल गयी। आँखें नीची करके उसने कहा—"यह मेरी नहीं, प्रमोद की तारीफ है।"

"सचमुच ही प्रमोद की तारीफ है।" सन्तोष ने कहा—"उसने मास्टर की तरह नहीं, घरके आदमी की तरह तुम्हारे साथ मेहनत की है। वह इतनी लगन से न पढ़ाता तो तुम अब तक पूरी तैयारी भी न कर पातीं।"

इसी बीच प्रमोद आगया। उसने आते ही कहा—"देवी तुम्हें बधाई देने आया हूँ!"

"पर यह बधाई तो तुम्हें मिलनी चाहिए प्रमोद! इसका श्रेय तो तुम्हें ही है।" सन्तोष ने कहा और सहज भाव से खिल पड़ा।

प्रमोद ने कहा—"नीलिमा देवी की कुशाग्र बुद्धि और उनके परिश्रम ने उन्हें यह सफलता दिलायी है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। हाँ, उनकी सफलता का अभिमान उन्हें नहीं, मुझे होना चाहिए।"

"शट् अप!" नीलिमा ने प्यार भरे स्वर में डाँटकर कहा और हँस पड़ी। सन्तोष और प्रमोद भी हँसने लगे। इस समय, क्षण भर के लिए, नीलिमा की चिर-सङ्गिनी उदासीनता न-जाने-कहाँ खो गयी थी।

प्रमोद ने सन्तोष की ओर देखकर पूछा—"भाई साहब, आगे के लिए क्या इरादा है?"

सन्तोष ने नीलिमा की ओर एक अभिप्राय-पूर्ण दृष्टि डाली। जरा मुस्कराया। बोला—"यह तो इनसे पूछो।"

नीलिमा पूछने के पहले ही बोली—"इरादा चाहे जो कुछ हो, तुम्हारी नौकरी बनी रहेगी।"

"बस, मुझे और क्या चाहिए!" यह प्रमोद ने कहा और अनजानते ही उसके मुँह से एक दबा हुआ, हलका उच्छ्वास निकल गया। उसने कातर नेत्रों से नीलिमा की ओर देखा। वह भी प्रमोद की ओर देख रही थी। उसने आँखें नीची करलीं। आँखों में भर आये हुए आँसुओं को उसने मुँह फेरकर पोंछ लिया। बोली—"क्यों जी, सचमुच आगे पढ़ने का क्या होगा?"

सन्तोष ने कहा—"मैं क्या जानूँ भई, तुम पढ़नेवाली, ये पढ़ानेवाले, बीच में मेरा क्या काम?"

"मैं तो पढ़ना जारी रखूँगी।" घुटनों पर सिर रखकर, नाखून से धरती खुरचती हुई नीलिमा ने कहा।

"तो फिर कॉलेज में नाम लिखा दिया जाय?"

"मैं सोचती हूँ, प्राइवेट ही पढ़ूँ तो कैसा हो? कॉलेज की झञ्झट तो शायद ही सँभाल सकूँ!"

"सोच लो, अपने मास्टर से सलाह कर लो, जैसी तुम लोगों की राय हो। अपनी पोजीशन का खयाल तो तुम्हें रखना ही पड़ेगा।"

"मास्टर साहब कुछ ज्यादा वक्त दें तो घर पर मैं कॉलेज से ज्यादा तैयारी कर लूँगी।"

"पूछलो फिर!"

नीलिमा ने कुछ पूछा तो नहीं, एक बार प्रमोद की ओर देख कर फिर धरती पर झुक गयी।

प्रमोद को नीलिमा की आँखों से भय मालूम होता है। उन आँखों में न-जाने-क्या है कि प्रमोद

उनकी ओर देखते ही आत्म-विस्मृत होने लगता है। उसके हृदय में जो कुछ है, उसे वह कैसे जबान पर ला सकता है? अपने को सँयत करके धीरे-धीरे उसने कहा—"इस साल तो मैं शायद ही वक्त दे सकूँ—मेरा भी तो इस साल फाइनल है!"

प्रमोद ने यह बात कह तो दी, किन्तु उसका हृदय कुछ और ही कहना चाहता था। उसका जीवन यदि केवल एक क्षण में सीमित हो जाय तो उस क्षण को वह नीलिमा के चरणों में लिपट कर ही बिता देना ज्यादा श्रेयस्कर समझेगा, फिर भी उसे समय के अभाव की दुहाई देनी पड़ती है। नीलिमा क्या उसके हृदय का दर्द समझ पावेगी?

नीलिमा ने प्रमोद का उत्तर सुना तो उसका मुँह सूख गया जैसे चोरी करते पकड़ी गयी हो। उसने विकल होकर प्रमोद की ओर देखा, किन्तु प्रमोद उस समय दूसरी ओर देख रहा था। सन्तोष ने कहा—"नीला! फिर तो कॉलेज में नाम लिखा लेना ही ज्यादा अच्छा है। थोड़े

वक्त के लिए या तो कोई और ट्यूटर रख लेना या प्रमोद को फ़ुर्सत मिलेगी तो यही पढ़ा देंगे।"

नीलिमा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। सन्तोष ने फिर पूछा—"नीला, क्या सोच रही हो?"

नीलिमा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। जब आत्म-संवरण न कर सकी तो झटपट उठकर अलग चली गयी। सन्तोष ने कहा—"कैसी पागल है!"

प्रमोद तो कुछ कह ही न सका। चुपचाप शून्य की ओर देखता रह गया।

× × ×

अब आप कुछ पहले की बातें सुन लें।

चार साल पहले नीलिमा अपने चाचा के साथ चन्द्रग्रहण का स्नान करने काशी आयी थी। तब अविवाहित थी और उम्र थी सोलह साल। सन्ध्या को विश्वनाथजी की आरती देखने गयी तो उमड़ी हुई भीड़ में चाचा से साथ छूट गया और वह घबरायी हुई इन-उन गलियों में घूमने लगी। तब दो आदमियों ने उसे आश्वासन दिया और चाचा के पास पहुँचा देने को कह कर उसे अपने साथ ले चले। दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी और अँधेरी गलियाँ

पार करने पर नीलिमा को मालूम हुआ कि उसने भयानक गलती की है। उन दोनों आदमियों का असद् अभिप्राय मालूम होते ही नीलिमा की अन्तरात्मा काँप उठी। उसकी समझ में न आया कि वह अबला इन दो नर-राक्षसों से कैसे अपनी रक्षा कर सकेगी। उसने अशरण-शरण को पुकारा। और जब वे दोनों अपने को निरापद समझ कर नीलिमा को छेड़ रहे थे, ठीक उसी समय देवता, के वरदान की तरह, न-जाने कहाँ से प्रमोद आ गया। एक तीसरे व्यक्ति को देखते ही नीलिमा 'बचाओ' कह कर चीख पड़ी। क्षण भर के लिए उसकी संज्ञा लुप्त हो गयी। प्रमोद पास आया। वे दोनों दुष्ट घबरा कर भाग गये। नीलिमा की रक्षा हो गयी।

छोटी-छोटी बातें कहें तो कहने को वक्त चाहिए। नीलिमा तो अपने चाचा के घर पहुँच गयी और उसके चाचा का प्रमोद से अच्छा खासा परिचय भी हो गया। उसके बाद ही, संयोग से, नीलिमा के चाचा को काशी में ही स्थायी रूप से रहना पड़ा। तब प्रमोद की नीलिमा से घनिष्ठता

हुई। नीलिमा का हृदय तो सदा ही श्रद्धा और नम्रता के भार से प्रमोद के सन्मुख झुका रहता था।

दो तिनके निरुद्देश्य जमीन पर पड़े रहते हैं। वायु का एक झोंका उन्हें साथ-साथ उड़ाकर कुछ दूर ले जाता है और फिर उन्हें अलग-अलग डाल कर चला जाता है। अनेक बार मानव-जीवन में भी ऐसी ही घटनाएँ होती देखी जाती हैं। नीलिमा के पिता-माता का देहान्त उसके शैशव में ही हो गया था। चाचा विधुर थे और निःसन्तान। स्वभावतः ही उनके हृदय का सारा वात्सल्य उमड़कर नीलिमा पर केन्द्रित हो गया था। माँ की अनुपस्थिति में नीलिमा बचपन से ही शर्मीली और गम्भीर हो गयी थी।

प्रमोद एक दरिद्र परिवार का एकमात्र उत्तराधिकारी था। पिता की उसे याद नहीं, पर माता का देहान्त हुए अभी दूसरा साल था। अब अकेला था और एफ. ए. की परीक्षा देने वाला था---तभी जीवन के दर्पण में नीलिमा प्रतिबिम्बित हुई। प्रमोद कब और कैसे अपने हृदय में थोड़ा-सा रिक्त अनुभव करने लगा, यह शायद वह

स्वयम् भी नहीं जानता, किन्तु उसके हृदय में एक सूनापन धीरे-धीरे अधिकार जमाने लगा। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे उसके पास कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे उसके पास होना चाहिए था।

प्रेम एक सपना है। अनेक बार सपने निद्रा की पलकों पर अस्फुट हो-होकर रह जाते हैं। उठने पर उनकी विस्मृति और अवसाद शेष रहता है। इसी प्रकार प्रेम भी अनेक बार मन के पर्दे में छिप-छिप कर ही रह जाता है। मनुष्य उसे जान नहीं पाता, उसे प्रकट नहीं कर पाता, अनेक बार जान-बूझकर भी प्रकट नहीं कर पाता।

मैं प्रमोद और नीलिमा के हृदय की बात न कहूँगा; जो कुछ उनके हृदय में था, वह वहीं रहे तो अधिक सुरक्षित रह सकता है। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि साल भर बाद ही जब नीलिमा की शादी होने लगी तो प्रमोद काशी छोड़कर चला गया और नीलिमा ने दिन-रात रो-रोकर अपना शरीर सुखा डाला। संसार ने क्या

जाना कि उसके रोदन के अन्तराल में उसके हृदय की कौन-सी निभृत वेदना छिपी हुई थी !

विवाह के बाद दो वर्ष बीत गये—नीलिमा और प्रमोद दोनों में से किसी को एक—दूसरे की खबर न मालूम हो सकी। कैसी, तपस्या कैसी साधना और कैसे मनोभावों के अन्दर से तपकर उन्हें निकलना पड़ा, यह हम-आप कैसे समझ सकते हैं ? नियति की आँधी ने दो जीवन-प्रवाह-रूपी तिनकों को थोड़ी दूर तक साथ-साथ उड़ाकर फिर अलग कर दिया था। सम्भव था, यह विच्छेद चिरस्थायी होता तो दोनों एक-दूसरे को भूल सकते, सुखी हो सकते—विस्मृति भी तो एक सुख ही है न ? पर वैसा नहीं हो सका। अदृष्ट के अदृश्य हाथों ने, फिर, अलक्षित रूप से, उन दोनों को एक जगह ला मिलाया।

काशी छोड़कर प्रमोद लखनऊ आया था। वह क्या जानता था कि जिसे छोड़कर, जिसको हमेशा के लिए भूल जाने की इच्छा से वह लखनऊ आ रहा है, उसे भी लखनऊ ही आना है। दो वर्ष तो उसे इसी लखनऊ में रहते बीत गये,

उसने इन दो वर्षों में बी॰ ए॰ पास कर लिया, पर कहीं उसे नीलिमा का नाम भी न सुन पड़ा। एक दिन सहसा ही उसे बीस रुपये का एक ट्यूशन मिल गया। ट्यूशनों से ही प्रमोद की पढ़ाई का खर्च चलता और निर्वाह होता था। एक दिन एक दैनिक पत्र में एक ट्यूटर की आवश्यकता का विज्ञापन छपा। प्रमोद दफ्तर में जाकर सन्तोष से मिला। वह इसकी बात-चीत और व्यवहार से प्रसन्न हुए और अपनी पत्नी की शिक्षा के लिए प्रमोद को नियुक्त कर लिया।

दूसरे दिन नियत समय पर सन्तोष के घर जाकर प्रमोद ने उसकी पत्नी के स्थान पर जब नीलिमा को देखा होगा तो उसके हृदय की क्या अवस्था हुई होगी, यह कल्पना से ही जाना जा सकता है। नीलिमा ने भी नये मास्टर साहब को देखकर क्या कहा होगा, यह उसका हृदय ही जाने! किन्तु, इतना तो मैं भी कह सकता हूँ कि उसे ऐसा जान पड़ा मानों अपरिचितों के देश में उसने किसी परिचित आत्मीय को देख लिया हो। उसका मन उछल उठा और उसका

उच्छ्वसित हृदय फूट-फूटकर रो-उठने के लिए व्याकुल होने लगा। बड़े यत्न से उसने अपने-आपको सँभाला और पढ़ने बैठी। उसने ऐसा भाव प्रकट किया मानों वह प्रमोद को जानती ही नहीं, प्रमोद को उसने कभी देखा ही नहीं है। प्रमोद भी चुपचाप पढ़ाकर चला गया।

तब तो कई दिन इसी तरह प्रमोद पढ़ाकर चला गया। पढ़ने के अतिरिक्त नीलिमा उससे एक शब्द भी न बोली। प्रमोद के मन में सन्देह होने लगा कि यह नीलिमा ही है या और कोई। नीलिमा होती तो क्या पहचानती भी नहीं? और दोनों में कितना साम्य है! वही रूप-रंग, बोल-चाल, गम्भीरता और उदासीनता! प्रमोद के मन में ये बातें उठतीं और लीन हो जाती थीं। वह भला कैसे इस बारे में कुछ पूछ-ताछ कर सकता था? और नीलिमा के मन में क्या होता था? वह सोचती हृदय की आग जब तक विस्मृति की चिनगारी के अन्दर छिपी रहे, अच्छा ही है। संयम की साधना के इस कठोर बाँध को तोड़कर बहने में क्या सुख है और उसके लिए गति ही

कहाँ है ? जो निश्चित है कि नहीं पाया जा सकता उसके लिए दिन-रात घुलते रहना भी क्या बुद्धिमानी है ?

किन्तु, बुद्धिमानी हो या मूर्खता, हृदय ने ज्ञान का यह पाठ नहीं पढ़ा। वह शायद पढ़ना चाहता भी नहीं। इसी से बात-बात के लिए मचल उठता है। प्रमोद और नीलिमा, दोनों ही, जब एकान्त में बैठकर अपने अतीत पर विचार करते हैं तो उन्हें सारी बातें एक पहेली-सी जान पड़ती हैं। न-जाने नियति के किस विधान से सहसा वे दोनों एक-दूसरे के जीवन के इतना समीप आकर भी अलग-अलग हो गये—सदा के लिए। उन दोनों के देखते-ही-देखते दुनियाँ न-जाने-कैसे इतनी बदल गयी और वे निरुपाय-असमर्थ होकर चुपचाप देखते रह गये !

इच्छाएँ तो स्वतः ही मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं, जल की लहरों के समान। उनके उत्पन्न होने का कारण कोई क्या बतला सकता है ? प्रमोद के मन में भी अगर इच्छाएँ उत्पन्न हों तो क्या वह अपराधी है ? नीलिमा आज

परायी स्त्री है। उसे वह आँख उठाकर देख भी नहीं सकता, स्पर्श भी नहीं कर सकता, अपने मन का रहस्य उस पर खोलकर प्रकट भी नहीं कर सकता। हाय! समाज में मनुष्य इतना असहाय क्यों है? मन के इतने निकट रहने पर भी शरीर कभी-कभी इतनी दूर क्यों रहा करता है?

पढ़ाई चल रही है, किन्तु दोनों के हृदय के प्रवाह उमड़-उमड़कर कहीं दूसरी ही ओर चले जाना चाहते हैं। प्रमोद पढ़ाते-पढ़ाते कभी शून्य आकाश की ओर देखने लगता है, नीलिमा पैर के अँगूठे से धरती खुरचने लगती है, दोनों के हृदयों में एक तूफान-सा उठा करता है, फिर सहसा ही नींद से जगे हुए के समान चौंककर पढ़ायी का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

एक दिन प्रमोद ने कहा—"देवी! मैं देखता हूँ, आपका जी पढ़ाई में नहीं लगता। कभी-कभी आप बहुत अन्यमनस्क हो जाती हैं। यह क्या बात है?"

"कहाँ मैं अन्यमनस्क होती हूँ? मेरा तो पढ़ने में खूब जी लगता है।"

"खैर मेरा ख्याल गलत होगा, लेकिन···"

"लेकिन, आप भी तो न-जाने कैसे-कैसे हो जाया करते हैं।" बच्चों की-सी सरलता से, दुलार-भरे स्वर में, नीलिमा ने कहा।

"मुझे तो अनेक चिन्ताएँ हैं। मेरी बात छोड़ दीजिए।"

"क्या चिन्ताएँ हैं?"

"बहुतेरी—घर-गृहस्थी की, पढ़ायी-लिखायी की, कमाने-खाने की।"

नीलिमा ने फिर कुछ न पूछा। उसके मन में बार-बार एक विचार पीड़ा पैदा कर देने लगा—प्रमोद ने क्या विवाह कर लिया है? हाय! वह कितनी विवश थी, नहीं तो प्रमोद की याद में जीवन-भर अविवाहित रह जाती! उस दिन सच-मुच ही उसका जी पढ़ने में न लगा। समय पर प्रमोद वापस चला गया।

कई दिन बीत गये। नीलिमा और प्रमोद के हृदय का व्यवधान धीरे-धीरे कम होने लगा। इतने दिनों के अन्तर में जो एक सङ्कोच और लज्जा का परदा-सा बीच में पड़ा हुआ जान पड़ता

था, वह क्रम से दूर होने लगा। अब दोनों घुल-घुल कर बातें करते, हँसते-हँसाते और फिर पढ़ाई में लग जाते। डेढ़ घण्टे की जगह अब प्रमोद तीन-तीन घण्टे नीलिमा के पास बैठा रह जाता। सन्तोष उस समय दफ्तर में होता था।

एक दिन नीलिमा ने पूछा—"तुम मुझे देवी क्यों कहते हो?"

"और क्या कहूँ?"

"नीलिमा मेरा नाम है, तुम क्या नहीं जानते? नीला कह कर पुकार सकते हो, जैसे सब पुकारते हैं!"

"नहीं देवी, मैं तुम्हें और कुछ नहीं कह सकता, मुझे यही रहने दो।" प्रमोद के मुँह से अज्ञात ही एक उसाँस निकलकर शून्य में विलीन हो गयी। उसने मन-ही मन कहा—अपने हृदय के निभृत प्रदेश में जिसे मैंने देवी की भाँति ही प्रतिष्ठित कर रखा है, अपने जीवन और प्राण के एक-एक कण से मैं सदा जिसकी उपासना में ही लीन रहता हूँ, उसे देवी के सिवा और क्या कहूँ?

नीलिमा थोड़ी देर रुककर बोली—"प्रमोद, सच कहना, तुमने यहाँ जिस दिन पहले-पहल मुझे देखा, पहचाना कि नहीं?"

"पहचाना क्यों न भला? और तुमने?"

"मैंने भी!"

"फिर तुमने मुझे बतलाया क्यों नहीं?"

"क्या बतलाती?"

"कि यह तुम्हीं हो।"

नीलिमा के हृदय में एक ठेस लगी। उसने मुरझाकर कहा—"मुझे क्या यह भी बताने की जरूरत थी कि मैं नीलिमा हूँ?...फिर तुम्हीं ने क्यों नहीं बतलाया?

"मुझे तो भय था.........."

"मुझे क्या वह नहीं था?"

दोनों के मुँह से एक साथ ही उच्छ्वास निकले और कदाचित् अपने प्राणों का विनिमय करते हुए अनन्त शून्य में विलीन हो गये।

थोड़ी देर में बातचीत का सिलसिला बदला। प्रमोद ने कहा—"तुम्हें पढ़ाते एक महीना हो गया। मुझे तनखाह कब मिलेगी?"

"पहली को।"

"देवी, मैं रुपये नहीं लूँगा। तुम उनसे कह देना।"

नीलिमा सिहर उठी—"यह कैसे हो सकता है, प्रमोद? रुपये न लोगे तो फिर क्या लोगे?

"क्या लूँगा?....क्या लूँगा?........" प्रमोद जैसे नशे-से लड़खड़ाने और आत्मविस्मृत होने लगा—"नहीं देवी, मैं कुछ भी नहीं लूँगा कुछ पा सकूँ, ऐसा भाग्य लेकर मैंने जन्म ही नहीं लिया। फिर क्यों व्यर्थ........!"

"फिर क्यों व्यर्थ......." प्रमोद के वाक्य का यह टुकड़ा नीलिमा के कानों में काँपती हुई झङ्कार के समान बार-बार प्रतिध्वनित हो उठने लगा। बड़े कष्ट से आत्म-संवरण करके उसने कहा—"प्रमोद, तुम क्या पागल हो गये हो? तुम्हें अपना चित्त सावधान रखना चाहिए। तुम रुपये न लोगे तो मैं तुमसे पढ़ न सकूँगी। समझे!"

नीलिमा की आँखों में छलछला आये हुए आँसुओं को प्रमोद ने देखा और उसके हृदय की

वेदना समझी। उसका मन-प्राण उन्मत्त होने लगा। इन आँसुओं के बदले वह अपने हृदय का रक्त दे सकता है, पर आँखों का पानी आँखों में ही बना रहे। वह उनका पतन नहीं देख सकता। उसका मन उन आँसुओं को पोंछ लेने के लिए ललच-ललच उठने लगा, पर हाथ जैसे जड़ हो गये थे, हिल भी न सके। प्रमोद ने कहा—"देवी! मेरी बातों से तुम्हें कष्ट हुआ हो तो मुझे माफ करो। तुम जो कहोगी, मैं वही करूँगा। तुम अपना जी न दुखाओ।"

पहली तारीख को प्रमोद को बीस रुपये मिले तो उसने उन्हें यत्न से अपने बक्स में बन्द कर दिया। नीलिमा की पढ़ाई के रुपये क्या वह अपने उपयोग में ला सकता था। नीलिमा का सब कुछ उसकी उपासना की सामग्री थी।

कई महीने बाद की एक घटना मुझे और याद है। नीलिमा ने पूछा—"प्रमोद, मैं परीक्षा में पास हो जाऊँगी?"

"जरूर! तुम बहुत समझदार हो।"

"तो मुझे क्या इनाम दोगे?"

प्रमोद के जी में आया, वह नीलिमा के गुलाबी गालों पर दो हल्के चपत जड़कर कह दे—यह। लेकिन, अपने कर्तव्य का ध्यान वह कभी नहीं भुलाना चाहता था। उसने फीकी हँसी हँसकर कहा—"मिठाई खिलाऊँगा।"

"मिठाई नहीं, और कुछ।"

"और क्या?"

"कुछ।"

"जो तुम कहो।"

"अपनी एक तस्वीर।"

"हुश, यह क्या इनाम हुआ? मैं तुम्हें एक सुन्दर अँगूठी दूँगा।"

"और एफ. ए. पास हो जाऊँगी तब?"

"एक बढ़िया घड़ी।"

"क्यों जी, कोई ऐसी भी परीक्षा है, जिसमें पास होने पर तुम मिल सकते हो?" आवेग-भरे हृदय से इतना कहकर नीलिमा झटपट उस कमरे से भाग गयी। प्रमोद के हृदय में जैसे बिजली खेल गयी। उसने एक बार दरवाजे से बाहर की ओर देखा—धूसर सन्ध्या धीरे-धीरे सघन होती

आ रही थी। प्रमोद ने सोचा-वह क्यों ऐसी दुराशा अपने हृदय में पाले?

× × ×

(२)

एक साँस में इतनी बात सुनाकर अब मैं फिर आपको उसी सन्ध्या की याद दिलाना चाहता हूँ, जब नीलिमा की सफलता पर प्रमोद उसे बधाई देने गया था।

प्रमोद उस शाम को घर लौटने लगा तो उसके पैर नहीं उठते थे। घर पहुँचते-पहुँचते रात हो गयी। आसमान में चाँद निकल आया। छोटा मिट्टी का कच्चा-घर साँय-साँय कर रहा था। ताला खोलकर अन्दर आया और आँगन में पड़ी चार-पायी पर लेट गया। आसमान साफ था और शून्य में दूध से धुली चाँदनी फैली हुई थी। बाहर एक बड़ का पेड़ था, जिसकी डालें प्रमोद के आँगन में फैली हुई थीं। पत्तों के अन्तराल से छनकर आती हुई चितकबरी ज्योत्स्ना धरती पर रङ्ग-बिरंगे चित्र बना रही थी। प्रमोद के मन में अनेक प्रकार के विचारों का

प्रवाह उन्मत्त झंझा की तरह प्रवाहित हो रहा था। उसने सोना चाहा, पर नींद न आयी। जब झपकी आने लगती, मन की आँखों में एक धुँधली-सी तस्वीर मूर्त हो उठती थी—उसकी आँखें खुल जाती थीं। उसके प्राण नीलिमामय हो रहे हैं। क्यों नहीं वह एक क्षण के लिए भी नीलिमा को भूल पाता?

रात गहरी हो आयी। गम्भीर निस्तब्धता चारों ओर फैल गयी—प्रमोद को ऐसा जान पड़ने लगा, मानों उसके प्राणों की धड़कन भी उसके साथ शान्त हुई जा रही है। विचारों का प्रवाह चल रहा है........

कैसा नीला-नीला आसमान ऊपर फैला हुआ है। दो-चार तारे भी इधर-उधर छिटके हुए हैं—कितने मटमैले, हतप्रभ! और, अब चन्द्रमा भी धूमिल होता जा रहा है। इसने अपने से भी कोई सुन्दर मुँह देख लिया है क्या?

सारी दुनियाँ सो गयी, चुप, शान्त है। मैं ही भला क्यों जाग रहा हूँ? यह बड़ का पेड़ अपराधी-सा सिर झुकाये क्यों खड़ा है? कभी-

कभी सिहर उठता है, न-जाने किस वेदना से!....यह कोई पक्षी चीख उठा। क्यों चीखता है यह इतने करुण स्वर से! इसके मन में कौन-सी कसक है? कसक न हो, वेदना न हो, कोई काँटा न हो तो दिल से आह क्यों निकले?

टूटता हुआ तारा जैसे आसमान में अपनी चमकीली रेखा छोड़ जाता है, मेरे हृदय में भी कोई ऐसी ही चमकीली किन्तु अस्पष्ट रेखा छोड़ गया है। कौन है वह?..............ऊँह, कोई भी हो ......लेकिन देखते ही देखते आसमान में ये बादल कहाँ से घिर आये? मनुष्य के हृदय में भी, इसी तरह, अचानक नाना प्रकार की चिन्ताओं के बादल घिर आते हैं। तो, यह आसमान भी किसी का दिल ही है क्या?

उफ्! कितनी गरमी पड़ रही है! वायु ठहरी हुई है, पत्ते निस्पन्द हैं, हृदय उबल रहा है। कैसी उमस है! कितनी प्यास लग रही है! कितनी प्यास....यह प्यास क्या पानी से बुझ सकेगी? कैसी प्यास है यह....

विचारों का प्रवाह चल रहा है........

(३)

सबेरे प्रमोद की नींद खुली तब सात बज चुके थे। आँगन में धूप आ गयी थी। वह उठकर चारपायी पर बैठ गया। बदन टूट रहा था, अँगड़ाई ली। हलक सूख गया था और शरीर में आलस्य भरा हुआ था। प्रमोद ने माथे पर हाथ रखा, तप्त तवे- सा जल रहा था। धीरे-धीरे उठा, चारपायी कमरे में ले गया, एक ग्लास जल पिया, चारपायी पर पड़ रहा—नीलिमा !

कहाँ होगी नीलिमा, क्या कर रही होगी, क्या सोच रही होगी! उसे क्या पता कि उसका प्रमोद किस हालत में पड़ा है और कितनी याद कर रहा है उसकी? उसने आँखें मूँद लीं। उसे जान पड़ा जैसे नीलिमा ने आकर उसके माथे पर प्यार से हाथ फेरा। कहा—इतना बुखार चढ़ रहा है, तुमने खबर भी न दी!

किन्तु कहाँ है नीलिमा?

नीलिमा क्या उससे अलग है? उसके मन में, प्राण में, स्मृति के एक-एक कण में; नीलिमा

का ही तो निवास है! नीलिमा के लिए ही तो उसे जीने की साध होती है!!

नीला, नीलिमा, देवी!!

अब प्रमोद से लेटे रहते नहीं बनता। कर-वटें बदलता है, छटपटाता है, एक उसाँस मुँह से चुपचाप निकल जाती है। उठकर कोने में रखी हुई पेटी के पास जाता है। अन्दर से पीतल का एक बक्स निकाल कर ले आता है। चारपायी पर लेटकर उसे खोलता है।

आप जानते हैं, उस खिलौने-से बक्स में क्या है? उसमें दो-चार सूखे फूल हैं, एक चूड़ी है, एक पत्र है—सब नीलिमा के हाथों का स्पर्श पाये हुए। उन्हें माथे से लगाता, आवेग-भरे हृदय से चूम लेता और संज्ञाहीन हो जाता है।

दो दिन बीत गये। प्रमोद बुखार में बेहोश पड़ा रहा, नीलिमा के यहाँ जा नहीं सका। तीसरे दिन डाकिया उसकी चारपायी पर एक खत डाल गया। प्रमोद ने ज्वर-तप्त हाथों से उसे खोलकर देखा, नीलिमा का खत था। उसने लिखा था—

प्रमोद,

क्या अब सचमुच ही तुम न आओगे? मैंने ऐसा क्या अपराध किया है तुम्हारा? मैं तो पढ़ना-लिखना सब छोड़ दूँगी, लेकिन तुम हफ्ते में एक बार कम से कम दर्शन तो दे जाया करो। मैं और कुछ नहीं चाहती। चाहती केवल यह हूँ कि कभी-कभी तुम्हें देख लिया करूँ और तुम से दो बातें कर लिया करूँ। पत्र पाते ही तुम आना देखो, मेरा अनुरोध टालना मत।

—नीलिमा।

पत्र पढ़कर प्रमोद चारपायी से उठ खड़ा हुआ, जैसे नीलिमा के घर जाने के लिए, किन्तु शरीर में बल नहीं था। वह धम्म से चारपायी पर गिरकर बेहोश हो गया। काली रात आकर निकल गयी और प्रमोद को खबर भी न लगी। सवेरे की धूप के साथ प्रमोद को चेतना हुई। उसकी आँखें खुली तो देखा, सामने नीलिमा खड़ी है। आँखों पर विश्वास न हुआ। आँखें मींचलीं। नीलिमा ने पुकारा—प्रमोद!

प्रमोद ने आँखें खोलकर नीलिमा की ओर देखा।

"कैसा जी है ?"

"अच्छा नहीं है।"

"बुखार कब से आ रहा है ?"

"उसी दिन से।"

"हम लोगों को खबर भी न दी !" कहकर नीलिमा जमीन पर बैठने लगी। प्रमोद ने कहा—"देवी ! जमीन पर बैठोगी ?"

"क्या हुआ ?" नीलिमा बैठने को हुई।

"न, देवी, जमीन पर न बैठो। मुझे दुःख होगा। देखो, उधर कहीं एक चटाई पड़ी होगी, उठा लाओ।' प्रमोद की आँखों में जल भर आया। नीलिमा ने देखा उसके हृदय में ठेस लगी—"पागल, रोते हो ? लो, मैं अभी चटाई लिये आती हूँ !"

नीलिमा चटाई लेकर बैठ गयी। पंखा लेकर झलने लगी। प्रमोद ने हाथ पकड़ लिया—"देवी ! यह क्या करती हो ? मुझे जरूरत नहीं है।"

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। तब प्रमोद ने पूछा—"भाई साहब कहाँ हैं ?"

"अभी आते हैं।" नीलिमा ने कहा और

साथ ही दरवाजे पर मोटर की आवाज सुन पड़ी। क्षण भर में सन्तोष एक डाक्टर के साथ कमरे में आ पहुँचा।

डाक्टर ने परीक्षा की, नुस्खा लिखा और फीस लेकर चलता बना। नौकर दवा लाने के लिए बाजार भेज दिया गया। सन्तोष और नीलिमा उसी टूटी चटाई पर बैठकर प्रमोद का जी बह-लाने लगे।

कई दिन बीत गये, प्रमोद का ज्वर न उतरा। धीरे-धीरे वायु-प्रकोप के लक्षण दीखने लगे और अवस्था खराब होती गयी। डाक्टर ने कहा—"बड़ी सावधानी की जरूरत है। परिचर्या के लिए एक नर्स बुला लीजिए।"

नीलिमा ने दबी जबान से सन्तोष से पूछा—"दो-तीन दिन मुझे भी यहीं रहने दीजिए न? नर्स को भी बुला लीजिए। मेरे होने से प्रमोद के जी को ढाढ़स होगा—वह अकेलापन का अनुभव न करेगा।"

सन्तोष ने आज्ञा दे दी। नीलिमा वहीं रही।

शाम तक नर्स भी आ गयी।

नर्स तो आने ही भर की थी, परिचर्या का सारा भार नीलिमा ने स्वयम् उठाया, इच्छापूर्वक। सहस्रबाहु का बल और स्फूर्ति लेकर, फूल-सी कोमल नीलिमा, प्रमोद की परिचर्या करने लगी। नर्स ने भी इधर-उधर से अपने लिए काम निकाल ही लिये।

कई दिन इसी तरह बीत गये। प्रमोद की अवस्था न सुधरी। दिन रात के मानसिक और शारीरिक क्लेश से नीलिमा पीली पड़ गयी, हतप्रभ। प्रियजनों का कष्ट सम्भवतः सँसार की सब से बड़ी वेदना है।

उस दिन रात को ग्यारह बजे के वक्त प्रमोद की तबियत सहसा ही घबराने लगी। दो बार उसे बेहोशी का दौरा हुआ, शायद पेट में दर्द होने के कारण। दर्द से व्याकुल होकर जब वह कराहने और छटपटाने लगता तो नीलिमा के हृदय पर जैसे वृश्चिक-दँश-सी पीड़ा होने लगती थी। उफ्! अगर वह अपने प्राण देकर भी प्रमोद का क्लेश कुछ कम कर सकती!

आधी रात के बाद प्रमोद का क्लेश कुछ कम हुआ। वह सुस्त होकर, जैसे थककर, चुपचाप

लेट रहा। आँखें बन्द थीं, साँस धीरे-धीरे चल रही थी। नीलिमा पास ही अराम कुर्सी पर लेटी, अधमुँदी आँखों से उसकी ओर देख रही थी।

सहसा प्रमोद ने करवट बदली। नीलिमा ने उठकर उसके बदन और ललाट पर हाथ रखा—थोड़ा-थोड़ा पसीना हो रहा था। वह खुशी से उछल पड़ी—"प्रमोद तुम्हारा बुखार उतर रहा है।"

प्रमोद हँसा। उसकी हँसी में अनन्त वेदना भरी थी। बोला—"देवी! दीपक बुझने के पहले जल उठता है, मेरे बुखार उतरने का यही अर्थ है। मैंने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया। कदाचित् यह पूर्व जन्म का कुछ प्रायश्चित्त था। मैं अब अधिक समय तक तुम लोगों के पास रहने का सौभाग्य न पाऊँगा। आखिरी बार आज तुम से एक भीख माँगता हूँ। बोलो, दोगी?"

रात्रि की निर्जन शान्ति में अनन्त पवित्रता का सङ्गीत प्रतिध्वनित हो रहा था, उस सङ्गीत के ताल-ताल पर दो हृदयों का कम्पन प्रतिबिम्बित हो रहा था। आवेग-भरे स्वर में नीलिमा ने कहा—"प्रमोद! मेरे पास जो कुछ भी है, वह मैं तुम्हें

समर्पण कर सकती हूँ, किन्तु हाय! मेरे पास तुम्हें देने लायक़ है ही क्या?"

"बहुत है देवी! मैं अन्तिम बार तुम्हारे चरणों की धूल चाहता हूँ। जरा अपने चरण मेरे पास फैला दो। मैं वहाँ तक पहुँच न पाऊँगा।"

नीलिमा रोने लगी। ऐसे-ही-रोते उसने मंत्रमुग्ध की तरह अपने पैर प्रमोद के पास फैला दिये। प्रमोद ने बारी-बारी से दोनों पैरों को चूम लिया, धूल लेकर सिरपर लगायी, फिर शान्त होकर लेट रहा। नीलिमा रोती रही।

"देवी!"

"......... ......"

"तुम रोती हो?"

"प्रमोद! तुम मुझे जीवन-भर कुढ़ाने ही के लिए आये थे?"

"देवी! मनुष्य का जीवन बड़ा विशाल है है—सागर की तरह। इच्छाएँ उसमें लहरों-सी उत्पन्न होती हैं, प्रेम ज्वार की तरह आता और आकांक्षाएँ भाटा की तरह अदृष्ट के तट से टकरा कर चूर-चूर हो जाती हैं। इन घटनाओं का अस्तित्व

कब तक रहेगा ? तुम अपना जी दुखी न करो।'

"प्रमोद !............"

"देवी ! रोओ मत। इधर आओ। मुझे अपने आँसू पोंछ लेने का अधिकार दो।"

नीलिमा पास गयी। प्रमोद ने अपने रुग्ण-शीर्ण हाथों से नीलिमा के आँसू पोंछ दिये। कहा—"देवी ! एक बात और, और बस। मैं अपने जीवन की सब से अन्तिम अभिलाषा तुम से कहे जाता हूँ, आज तक किसी से नहीं कहा, अब और किससे कहूँ ? यह कुञ्जी लो। उस बक्स में एक छोटी-सी पीतल की पेटी रखी है। उसे निकालकर चुपचाप अपने पास रख लेना किसी को दिखाना मत, स्वयम् भी न देखना। उसे मेरी चिता पर डाल देना। उसी बक्स में ढाई सौ रुपये रखे हैं। उन्हें अपने हाथ से किसी सत्कार्य में खर्च कर देना। बस, भगवान् तुम्हारा मङ्गल करे।"

कहते-कहते प्रमोद हाँफ उठा। थोड़ी देर में उसे फिर बेहोशी का दौरा आया। नीलिमा किं-कर्तव्यमूढ़ हो रही थी।

(४)

दूसरे दिन का प्रातःकाल नयी दुनियाँ बना लाया। सबेरे आकर सन्तोष ने देखा—प्रमोद का ज्वर उतर गया है, पसीने से कपड़े तर हो गये हैं और वह आराम की नींद सो रहा है। इधर नीलिमा जमीन पर गहरी मूर्च्छा में पड़ी हुई है, उसका सिर फूट गया है, रक्त की एक पतली धारा बहकर गालों पर सूख गयी है।

सन्तोष घबराया हुआ डॉक्टर के पास दौड़ गया। डाक्टर ने आकर परीक्षा की। कहा—"सहसा कोई भीषण मानसिक आघात पाकर इन्हें मूर्च्छा आ गयी है। इन्हें पूरा आराम मिलना चाहिए।"

प्रमोद की बीमारी की बात सन्तोष भूल गया। उसी समय पत्नी को घर ले जाने की व्यवस्था की गयी। सन्तोष सब कुछ भूलकर उसका उपचार करने लगा।

लेकिन सब लोगों के सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए। सात रोज की बीमारी के बाद, आठ मास के गर्भ से एक कन्या प्रसव करके नीलिमा ने संसार से चिर-विदा ली। प्रमोद तो न-जाने कब अच्छा होकर उसकी

सुश्रूषा में आ-जुटा था। मरने के कुछ क्षण पहले नीलिमा ने प्रमोद को अपने पास बुलाया। कहा–"प्रमोद! अपने शरीर को सावधानी से रखना। तुम दुखी होओगे तो मेरी आत्मा को दुःख होगा। मेरे ही लिए सुखी रहने का प्रयत्न करना। मै फिर तुम्हें मिलूँगी। उसने और कुछ न कहा। सन्तोष रो रहा था, प्रमोद रो रहा था–नीलिमा ने हँसते-हँसते प्रस्थान किया।

शव के चरणों को प्रमोद ने अपने आँसुओं से धो दिया। चिता धाँय-धाँय कर के जल उठी। नीलिमा के कोमल शरीर के साथ उसने प्रमोद के हृदय को जलाकर राख कर डाला।